...कृत
...के
...ोर पण्डित

रामचन्द्र मालवीय

[उत्तर-प्रदेश के शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत]

संस्कृत के विद्वान् और पण्डित

[प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों का संक्षिप्त जीवन-चरित्र]

लेखक

श्री रामचन्द्र मालवीय

एम्० ए०, एल्० टी०, आचार्य

सहायक रजिस्ट्रार—गवर्नमेंट संस्कृत कालेज परीक्षाएँ,

वाराणसी

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी बुकडिपो लखनऊ

तीसरी बार
१९५६ ई०

मूल्य——एक रुपया आठ आने

मुद्रक
रामेश्वरदयाल दीक्षित, हिन्दुस्तानी आर्ट काटेज, लखनऊ
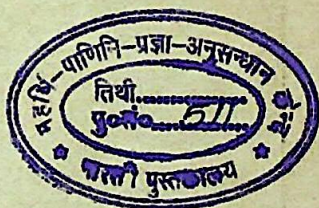
श्री भैरवनाथ झा
भूतपूर्व शिक्षा संचालक उत्तर-प्रदेश

"जिनके कृशकाय में हिमालय से उन्नत और महान् व्यक्तित्व का वास है, उन श्री भैरवनाथजी 'झा' के कर-कमलों में श्रद्धा का प्रतीक यह पत्र-पुष्प सादर समर्पित है।"

—रामचन्द्र मालवीय

भूमिका

युग के आरंभ से ही मानव को मानव से बल मिला है। एकाकी मान अपने को सम्बल और आश्रय से हीन समझता हुआ आकुल और चिंतित रहता है। उसकी शक्तियाँ कुण्ठित और उसका साहस सोता हुआ सा रहता है। दुर्गा सप्तशती के कथानक के अधिनायक राजा सुरथ अपहृत-राज्य होकर जब मेधा ऋषि के शांत तपोवन में एकाकी पहुँचे तब चिंतित मानस होने पर भी उनको ऋषि से अपनी मानसी व्यथा कहने का तब तक साहस नहीं हुआ जब तक उनको अपना समान धर्मी दूसरा मानव समाधि नामक वैश्य नहीं मिला। उस दूसरे मानव के मिलते ही राजा को जैसे जीवन-दान मिला और तब दो ने मंत्रणा कर मुनि को अपना वृत्तांत सुनाया। मानव को मानव से बल मि की आधार शिला पर ही समाज और राष्ट्र के सुदृढ़ प्रासाद का निर्माण हो है। यह सिद्धांत भौतिक क्षेत्र में जिस सीमा तक सत्य है, आत्मिक क्षेत्र में यह उतने ही खरेपन के साथ और उतनी ही दूर तक सत्य है। महामानव और कृष्ण के उदात्त चरित्र का सम्बल पाकर ही आज अनेकानेक आक्रांत और अत्याचारियों की झंझा से बचकर पुनः-पुनः पल्लवित और कुसुमित ह हुई आर्य-संस्कृति रूपी द्रुमावली अक्षयवट के समान विराजमान है। इन और कृष्ण की परम्परा में छोटे-मोटे अनेक राम-कृष्ण होते आये जि कृतियों और मूर्तियों से महाटवी के पथिकों को पाथेय मिलता र ... मान् सत्यों की यह शृंखला प्राचीनतम काल से आधुनिकतम काल ... रूप से एक कड़ी से दूसरी कड़ी को मिलाती हुई हमारे मध्य वर्त्तमान है। जब तक संसार की सत्ता है यह इसी रूप में अनुदिन, अनुवत्सर विस् होकर सदसद् के भेद का विवेचन करती हुई कोटि-कोटि मानव को महाम बनने की प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

रणा के इन स्रोतों का इस देश में इतना बाहुल्य रहा है कि यहाँ के
ने उनकी यशोगाथा की रक्षा की ओर ध्यान देना उचित नहीं समझा,
कारण है कि आज दिन क्या आत्मकथा के रूप में क्या घर कथा के रूप में
ाणिनि, पतंजलि और व्यास, कालिदास आदि अनेक महाविभूतियों का विस्तृत
जीवन वृत्तांत नहीं उपलब्ध होता जब कि हमारे ही आगे तरुणाई को प्राप्त हुए
पाश्चात्य देशों में एक-एक महापुरुष के भिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये अनेक
जीवन-चरित्र मिलते हैं। किसी भी सुसज्जित पुस्तकालय में चले जाइये और
आपको पाश्चात्य साहित्यिक महारथियों, योद्धाओं, शिल्पियों और श्रमजीवियों,
शिक्षकों और उपदेशकों के जीवन चरित्र बहुधा दैनिक चर्याओं के विस्तृत
विवरण के साथ मिल जायँगे।

महाविभूतियाँ जब तक इस संसार में रहती हैं अपने महान् व्यक्तित्व के
प्रभाव से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में साधारण व्यक्तियों के जीवन
को महान् और उन्नत बनाती रहती हैं और काल पुरुष के अकाट्य आदेश से
जब उनका पांचभौतिक शरीर इस भूतप्रपंच से बहिर्भूत हो जाता है तब भी
उनके पदचिह्नों का अनुसरण कर उनकी प्रतिदिन की बातों का स्मरण कर
जन साधारण अपने अन्तस् के कलुष और दोष को दूरकर प्रशस्त पथ का
अनुगमन करते हैं। महापुरुषों की जीवनियों के अध्ययन से किस प्रकार हमारी
भावनाएँ उदात्त और विचारधारा पवित्र बनती है यह बात किसी भी सहृदय
पाठक से छिपी नहीं है। अभिनव भारत में सुरभारती संस्कृत भाषा के
पुनरुज्जीवन के लिए जो प्रयास प्रारंभ हुआ है। उसे देखकर यह आशा की
जा सकती है कि संभवतः शीघ्र ही संस्कृत को अपनी पूर्व प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त
गी और उसे शिष्ट समाज की भाषा का गौरव प्राप्त होगा जिसे आज
जी भाषा ने बलात् ग्रहण कर रक्खा है। संस्कृत वाङ्मय कितना गौरवमय
और उसके अनुशीलन करनेवाले किस प्रकार शान्त, संयत और मा गृधः
ाचित् धनम् के उपासक बनकर संसार को शांतिमय और सुखमय बना
े हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने लाने के उद्देश्य से मैंने नवीनतम युग के
विद्वानों और पंडितों का जीवन वृत्त लिखा है। संस्कृत के अध्येता और

प्रेमी इन जीवनियों को पढ़कर अपने-अपने कर्मक्षेत्र को चिन्तित की अपेक्षा कहीं अधिक प्रशस्त बना सकेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। इसके अतिरिक्त विद्वानों के जीवन वृत्त न लिखने की जो प्रथा अब तक भारतवर्ष में अपनायी गयी है उस दिशा में भी बहुत कुछ सुधार की संभावना होगी; अधिक नहीं तो जो कुछ मैंने लिखा है उसी का खंडन-मंडन किया जाकर यदि इतने विद्वानों की भी जीवन घटनाएँ प्रामाणिक रूप से संगृहीत हो सकीं तब भी मैं अपना थोड़ा सा परिश्रम सफल समझूँगा। इनके अतिरिक्त यहाँ एक बात की ओर और भी ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि मैक्समूलर का जिसका कि पाश्चात्य संस्कृतज्ञों में सर्वाधिक ऊँचा आसन है, जीवन वृत्त उसकी विधवा पत्नी ने अँग्रेजी में दो वृहत् खंडों में सम्पादित किया है, जिसमें उसने बड़े परिश्रम और परिशोध के साथ मैक्समूलर द्वारा लिखे गये प्रायः सभी पत्रों का संग्रह कर दिया है जिनमें अपूर्व ज्ञान सामग्री वर्त्तमान है। अपने देश में तो मेरा जहाँ तक ज्ञान है ऐसा एक भी जीवन वृत्त नहीं है जो इस रूप में लिखा गया हो। आज जब हम उनकी वेष-भूषा और भोजन विधि को अपनाने में अब भी संकोच नहीं करते तो क्या हमारे लिए यह अनुकरणीय न होगा कि हमारे देश की भी देवियाँ और शिष्य समाज इसी प्रकार अपने पतियों और गुरुओं का जीवन वृत्त लिखें। इन्हीं सब विचारों से प्रेरित होकर मैंने इधर-उधर से कुछ संग्रह कर एक स्थान पर ला रखने की चेष्टा की है। इनमें तथ्य की, भाषा की तथा और भी अनेक त्रुटियाँ होंगी पर मुझे प्रसन्नता होगी यदि भविष्य में मेरी जैसी त्रुटियों से रहित इसी प्रकार अन्य विभूतियों के जीवन वृत्त प्रकाशित होंगे।

इन जीवनियों के संग्रह करने में मैंने किसी भेदभाव से काम नहीं लिया है। यह बड़े यह छोटे, इनको प्रथम लिखना चाहिए था इनको बाद में, इस विवाद को भी मैंने बचाया और आलसहीन अवकाश के समय जो, जैसे और जिस क्रम से लिखे जा सके उन्हें वैसे ही प्रेस को दे दिया है। यद्यपि इन सभी विद्वानों के विषय में बहुत थोड़ा-थोड़ा ही लिखा जा सका है तथापि मेरा विचार है कि इतने से भी संस्कृत प्रेमियों को कुछ संतोष अवश्य होगा और कोई न कोई सज्जन इस बात का भी प्रयत्न अवश्य करेंगे कि अभी-अभी

के इन महापण्डितों में से कुछ की बहुमूल्य रचनाओं तथा उनके सम्बन्ध का मन्द से मन्द तथ्य संगृहीत होकर उन सबके आधार पर उनका बृहदाकार जीवनवृत्त प्रकाशित हो।

अन्त में उन सभी विद्वानों और विद्याव्यसनियों के प्रति अपना आभार प्रकट करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके लेखों और संस्मरणों के आधार पर मैं प्रस्तुत पुस्तक लिखने में सफल हो सका। इस प्रसंग में मैं अपने महनीय मित्र, सम्प्रति काशीस्थ राजकीय संस्कृत पाठशाला के प्रथम प्राध्यापक श्री बदरीनाथजी शुक्ल न्यायवेदांताचार्य की चर्चा किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने पुस्तक लेखन-काल में मुझे कई संस्मरणीय विद्वानों के जीवन-वृत्त की संक्षिप्त रूपरेखा भेजी। इस प्रकार पुस्तक लेखन में मेरा अपना स्थान साधारण मालाकार की भाँति है जो आवश्यकता के समय किसी प्रकार पुष्पचयन कर उन्हें कलात्मक ढंग से नहीं अपितु यों ही पिरोकर आवश्यक अभाव की पूर्ति कर देता है। हिंदी संसार में ऐसे वृत्त संग्रह की आवश्यकता थी। इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में भी हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ के अध्यक्ष श्री विष्णुनारायणजी भार्गव का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने भारतीय जन-समाज की वर्त्तमान अभिरुचि देखते हुए यह जानकर भी कि पुस्तक के अधिक संख्या में बिकने की कोई संभावना नहीं है, अपनी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्ति के कारण प्रातःस्मरणीय विद्वानों के चरित्र को सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया।

—लेखक

विषय-सूची

(१)

महामहोपाध्याय श्री गङ्गाधर शास्त्री, सी० आई० ई०

उस दिन गोपाल मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में महती सभा का आयोजन था। काशी के साव और महाजन, वंशधर रईस और गण्यमान्य अधिकारी, विद्याभ्यास में रत विद्यार्थी और ब्रह्मचारी, पाठशालाओं के अध्यापक और मंदिरों के पुजारी सब एकत्र हुए थे—बम्बई-निवासी भारत मार्त्तंड श्री गट्टूलाल शास्त्री का समादर, स्वागत और अभिनन्दन करने के लिए। पण्डितजी प्रज्ञाचक्षु थे। उनसे अनेक मनुष्य अनेक प्रश्न एक ही साथ पूछ सकते थे, जिन सब का समाधान वे सद्यः कर देते थे। वे शतावधान थे, साथ ही आशु कवि भी। उनकी विद्वता की धाक सारे भारत में जम चुकी थी और वे उस समय षड्दर्शन के मान्य आचार्य थे। इस समय वे अपने अनेक शिष्यों के साथ काशी आये हुए थे। संभवतः काशी की पण्डित मण्डली को परास्त कर पूरे भारत में अपने पाण्डित्य का सर्वोपरि सिक्का चलाने के लिए। उपस्थित जनसमूह आकुल भाव

से कह रहा था—देखें, बाबा आज अपनी नगरी की लाज बचाते हैं या गँवाते ! पण्डितजी ने जब अपनी शतावधानता का प्रदर्शन किया तो लोग चकित हो गये। अपने-अपने गूढ़ प्रश्नों का समुचित उत्तर पाकर विद्वन्मण्डली भी सन्तोष का अनुभव करने लगी, लोग शास्त्रीजी की 'भारत मार्त्तंड' उपाधि की अन्वर्थ-कता मान गये और उपस्थित जनमण्डली को ऐसा लगा मानों काशी की लाज गयी; वहाँ कोई वाद-विजेता धुरन्धर पण्डित नहीं रहा। इतने में एक कृशकाय किंतु तेजस्वी दाक्षिणात्य युवक ने ओजपूर्ण पर विनय-मधुर शब्दों में शात्रिवर से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की और जनता की हर्षध्वनि के साथ प्रज्ञाचक्षु के सम्मुख आसन ग्रहण किया। वाद-विषय की एक दो कोटियों के अनन्तर ही प्रज्ञाचक्षुजी को यह अवगत होने लगा जैसे उनके समक्ष कोई अत्यन्त प्रबल प्रतिपक्षी आ गया है और उनकी अकाट्य उक्तियों को अपनी प्रौढ़तर उक्तियों द्वारा खण्डित करता जा रहा है। थोड़ी देर के ही शास्त्रार्थ में प्रज्ञाचक्षु जी निरुत्तर हो गये और जनता ने हर्षध्वनि की; किन्तु भारत-विजयी प्रज्ञाचक्षुजी इस प्रकार अपने को परास्त मानना नहीं स्वीकार करना चाहते थे, उन्होंने बड़े गर्व के साथ घोषणा की कि यदि उनकी दी हुई वर्ण-क्रमानुसारिणी समस्या की वर्णक्रमानुसार ही पूर्ति कर दी जाय तो वह अपने को परास्त हुआ मानेंगे अन्यथा नहीं। युवक ने भी सगर्व उत्तर दिया—गुरुदेव के आशीर्वाद से मैं आपकी समस्या-पूर्ति सद्यः कर दूँगा। कहिए क्या समस्या है ? उत्तर में प्रज्ञाचक्षुजी ने समस्या दी :—

बभौ मयूरो लवशेष सिंहः

स्वयंवर के समय जिस प्रकार धनुष की कठोरता और राम की कोमलता देखकर जनकनन्दिनी ने कहा था :—

"कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः।"

उसी प्रकार तत्कालीन सभा के सदस्यों ने भी सोचा कि इस वर्णक्रम के अनुसार प्रस्तुत समस्या का वर्णक्रम के अनुसार पूर्ण होना कठिन है। काशी

जीत कर भी हारी जा रही है, किंतु जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उस कृशकाय युवक ने शीघ्र ही उसको निम्नलिखित रूप में पूर्ति कर सुनाई—

अनेक वर्ण क्रमरीति युक्तः
कखागघाङ्च्छजझाञटौठः
अडण्ढणस्तोऽथ दधौ न पम्फुल्
वभौ मयूरो लवशेषसिंहः।
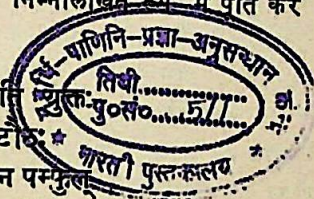
गोपाल मन्दिर का प्राङ्गण 'जितं जितम्' के शब्द से गूँज उठा और निराशा की ओर अग्रसर होते हुए लोगों का मानस हर्षातिरेक से उन्मत्त हो उठा। भारतमार्त्तण्ड ने भी युवक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया, श्रद्धालुओं ने युवक के चरणस्पर्श किये और विद्वानों ने युवक को गले लगाया। इस प्रकार सभा विसर्जित हुई और लोग काशी विश्वनाथ एवं शास्त्री जी का जय घोष करते हुए प्रसन्नता से अपने-अपने घरों को गये।

यह युवक और कोई न था प्रत्युत हमारे चरित नायक श्री गङ्गाधर शास्त्रीं ही थे। इनके पूर्वज बंगलौर मण्डलान्तर्गत 'यसरगट्टा' ग्राम के रहनेवाले गौतम गोत्रीय उच्चकुल के ब्राह्मण थे, जो कृष्ण यजुर्वेद की आपस्तंब शाखा के नियम-पूर्वक अध्येता और आचार-विचार की दृष्टि से अत्यन्त सम्मानित थे। इनके पितामह का नाम सुब्रह्मण्य था और पिता का नृसिंह शास्त्री मानवल्ली। नृसिंह शास्त्री की शैशवावस्था में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था और इस प्रकार वे अनाथ होकर अपना गाँव छोड़कर अपने मामा के पास बंगलौर नगर में आकर रहने लगे थे। वहाँ रहते हुए इन्होंने जब कुलक्रमागत वेद और वेदांगों का अध्ययन समाप्त कर लिया तब वे दर्शन शास्त्र के प्रमुख विषय न्याय और वेदांत का विशेष ज्ञान प्राप्त करने की बलवती इच्छा से प्रेरित होकर अट्ठारह वर्ष की अवस्था में पैदल ही काशी चल पड़े। काशी आकर इन्होंने न केवल न्याय और वेदान्तादि में ही किंतु साहित्य शास्त्र में भी

अद्‌भुत नैपुण्य प्राप्त किया और तदनुरूप तत्कालीन विद्वत्समाज में अतुल प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। इसके अनन्तर इनका विवाह हुआ और अपनी प्रौढ़ विद्वत्ता से इन्होंने महाराज काशीनरेश श्री ईश्वरीप्रसाद सिंह को संतुष्ट कर उनके 'सभापण्डित' होने का सम्मान प्राप्त किया। कुछ दिन बाद, काशी नरेश के आदेश से इन्होंने हिन्दी भाषा में 'साहित्य-सागर' नामक विशाल ग्रंथ लिखा और स्वेच्छा से 'काव्यात्म-संशोधन' और 'शिवभक्ति विलास' टीका की रचना की।

इन ग्रंथों की रचना से श्रीमान् काशीनरेश और जनता की दृष्टि में इनका स्थान और भी ऊँचा हो गया। इस प्रकार नरेश और नर समूह से सम्मानित हो जाने पर विश्वेश ने भी इन पर अनुग्रह प्रदर्शन किया जिसके फलस्वरूप विक्रम संवत् १९१० ज्येष्ठ शुक्ल दशमी, गङ्गा दशहरा के दिन इनके घर गङ्गाधर शास्त्री का जन्म हुआ। वंश-परम्परा के अनुरूप पिता ने नवजात शिशु का नाम 'सुब्रह्मण्य' रक्खा; किन्तु गङ्गा दशहरा पर्व के दिन उत्पन्न होने के कारण शिशु की मातामही को 'गङ्गाधर' नाम प्रिय प्रतीत हुआ और शास्त्रीजी इसी नाम से विख्यात हुए। शास्त्रीजी तीन ही वर्ष के हो पाये थे कि उनकी माता का देहान्त हो गया और दयिता के दुःख को भूल सकने के लिए श्रीनृसिंह शास्त्री ही इनके लालन-पालन में विशेष रूप से लग गये। विद्वान् पिता ने मेधावी शिशु को शैशव से ही कोश और काव्यादि की शिक्षा देनी प्रारंभ कर दी। अनन्तर आठ वर्ष की अवस्था में बालक गङ्गाधर का उपनयन संस्कार कर पिता ने सावित्री का उपदेश किया, जिससे उसका ब्रह्मवर्चस प्रतिदिन बढ़ने लगा। योग्य और आचारनिष्ठ पिता की संरक्षता और पूर्वजन्म के उत्तम संस्कार के कारण बालक गङ्गाधर छोटी अवस्था से ही नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने लगे और प्रातः-सायं संध्योपासना और अग्नि को आहुति प्रदान करने में एक दिन का भी नागा नहीं किया। ऐसे आचारपूत बालक को पिता ने प्रसन्न मन से तत्कालीन वैदिक विद्वानों में अग्रणी श्री बालकृष्ण भट्ट की पाठशाला में भेजा, जहाँ उसने यजुर्वेद की आपस्तम्ब शाखा और उसके अङ्गों का सम्यक् अध्ययन किया। इस प्रकार सोलह वर्ष की

अवस्था तक वेद, वेदाङ्ग और श्रौत तथा स्मार्त कर्मकाण्ड का विशेष अध्ययन कर इन्होंने गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में नाम लिखाया। उस समय वहाँ श्री राजारामजी शास्त्री प्रधान अध्यापक थे। राजाराम शास्त्री जैसा बलशाली विद्वान् अब तक कोई दूसरा नहीं हुआ। वे योगाभ्यासी थे, उनकी भुजाएँ भीम के समान थीं। वे दर्शन और व्याकरणशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे।

बालक गंगाधर की धारणा शक्ति बड़ी अद्भुत थी, जो कुछ एक बार सुन लेते थे वह उन्हें सदा स्मरण रहता था। गुरु ने ऐसे मेधावी एवं कुशाग्र बुद्धि शिष्य को पाकर अत्यन्त सन्तोष तथा आह्लाद का अनुभव किया और बड़े स्नेह के साथ शिक्षा दी। शिष्य ने भी जिस श्रद्धा के साथ विनीत भाव से विद्या ग्रहण की वह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आदर्श होना चाहिए। गुरुवर प्रसन्न होकर इनको योग विद्या की भी शिक्षा दी थी। कुछ काल के अनन्तर राजारामजी शास्त्री का देहान्त हो गया जिससे गंगाधरजी को अत्यन्त दुःख हुआ। वे बहुधा भावाकुल होकर उनका स्मरण करते हुए रोने लगते थे और कुछ दिनों तक अहर्निश उन्हीं के ध्यान में मग्न रहते थे। सुना जाता है कि शास्त्रीजी को ऐसी दशा में कुछ समय तक स्वप्न में अपने गुरु के दर्शन होते रहे, जिससे उनको अत्यन्त हर्ष और आश्वासन मिलता था।

पुत्र के इस प्रकार शास्त्र निष्णात हो जाने पर पिता ने विवाह संस्कार करना उचित समझा। तदनुकूल शास्त्रीजी का विवाह हुआ और वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए, किन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई थी; अतः उन्होंने श्री बालशास्त्रीजी रानाडे को अपना गुरु बनाया। बालशास्त्रीजी उस समय के विख्यात विद्वान् थे, उनको लोग "बाल सरस्वती" कहा करते थे। पाणिनि, जैमिनि, पतञ्जलि, कणाद, गौतम और शंकर सभी आचार्यों की विद्याओं का उनको परमोज्ज्वल ज्ञान था। उनका आचार अनुकरणीय और स्पृहणीय था। उनके सामने बड़े-बड़े सामन्त श्रद्धा से नत होते थे। मण्डीनरेश नित्य ही पुष्पहार से उनकी पूजा करते थे। उनकी कीर्ति समस्त भारतवर्ष में व्याप्त थी। अपनी गुरुभक्ति, विनय एवं शील तथा सर्वोपरि सर्वातिशायिनी प्रतिभा से बालशास्त्री के हृदय पर गंगाधर ने एकाधिकार प्राप्त कर लिया।

यह सुवर्ण और सुगंध का संयोग था। लोकोपरि गुरु और लोकोत्तर शिष्य। इस समय बालशास्त्री अपने जीवन की सान्ध्य गोधूलि में वर्त्तमान थे और गंगाधर अपने जीवन सम्बन्धी उषःकाल के उज्ज्वल आलोक में। जीवन के अन्तिम क्षणों में बालशास्त्री जी को इस बात का परम सन्तोष था कि अपने समस्त जीवन की साधना और संयम से उन्होंने जो ज्ञानराशि संचित की थी, उसको वे संसार के श्रेय के लिए योग्यतम अधिकारी को समर्पित कर सके। अपने समस्त शिष्यों का अध्यापन और धर्मशास्त्र संबंधिनी व्यवस्था आदि का कार्य उन्होंने गंगाधर को ही सौंप दिया। विद्वत् समाज में वे बहुधा लोगों से कहा करते थे कि गंगाधर मेरा ही प्रतिरूप है।

कर्म क्षेत्र में

सन् १८७९ में थीबो साहब गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे। गंगाधरजी का सुयश उनके कानों में भी पहुँचा और उन्होंने ससम्मान गंगाधर जी से प्रार्थना कर अपने कालेज में साहित्य और दर्शनाध्यापक का पद उन्हें दिया। कुछ दिनों के अनन्तर गवर्नमेंट संस्कृत कालेज कलकत्ता के प्रधान अध्यक्ष महामहोपाध्याय श्रीमहेशचंद्र न्यायरत्न, सी० आई० ई० काशी आये और शास्त्रीजी के घर जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे उनके कालेज में अध्यापक का पद स्वीकार कर लें। काशी में शास्त्रीजी का वेतन उस समय केवल चालीस रुपया था और महेशचंद्रजी उन्हें ५००) मासिक देने को उद्यत थे; किन्तु शास्त्रिवर ने न्यायरत्नजी का अनुरोध अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने कहा—विश्वाश्रय विश्वनाथ की अनुकंपा से मेरे जीवन-निर्वाह योग्य धन जब मुझे यहीं मिल रहा है तो मैं उनकी नगरी छोड़कर अन्यत्र क्यों जाऊँ! पुत्र की इस प्रकार धर्मनिष्ठा और त्याग देखकर पिता को परम संतोष हुआ।

विक्रम सम्वत् १९५३ में काशी निवासी सदाशिव दीक्षित नामक अग्निहोत्री ब्राह्मण ने ज्योतिष्टोम याग करना चाहा; किंतु ब्राह्मण के पास धन का सर्वथा अभाव था। उसने शास्त्रीजी के समीप जाकर उनसे याग में सर्वतोमुख सहयोग देने का आग्रह किया। शास्त्रीजी का वेतन इतना कम था कि वे उस ब्राह्मण

की आर्थिक सहायता करने में असमर्थ थे। फिर भी उन्होंने सदाशिव की पुण्य-निष्ठा देखकर यज्ञ कराना स्वीकार कर लिया और जाने-माने लोगों से सहायता की प्रार्थना की। शास्त्री जी की अध्वार्यता में यज्ञ प्रारम्भ हुआ। श्रद्धालु जनता यज्ञसम्भार और समारोह देखकर पुलकित हो उठी। सम्पन्न और असम्पन्न सभी ने सहायतार्थ मुक्तहस्त होकर धन दान दिया। सहायकों की संख्या बढ़ती ही गयी और अन्त में इतना तक हुआ कि शास्त्री जी को अनेक श्रद्धालुओं की आर्थिक सहायता अनावश्यक कहकर अस्वीकार करनी पड़ी। वह यज्ञ समारोह अपूर्व था। सामगान, वेदघोष और विद्वानों का समवाय देखकर जनता ने अनुभव किया; जैसे वसुन्धरा पर सत्ययुग का समागम हो गया है। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और जनता ने मुक्तकण्ठ से शास्त्रिवर को साधुवाद दिया। इस यज्ञ में शास्त्रिवर की आचार्यता में ऋत्विजों, होताओं और अध्वर्युओं की असाधारण कर्म-कुशलता देखकर नेपाल के राजपण्डित आचार्य शिरोमणि शर्मा ने भी श्रेताग्नि संबंधी 'सोमाधान' यज्ञ करने की इच्छा प्रकट की और शास्त्रिवर से शुभ मुहूर्त में दीक्षित होकर यज्ञ सुसम्पन्न किया। इसके अनन्तर विक्रमाब्द १९५५-५६ के बीच शास्त्री जी को ही दो यज्ञ और कराने पड़े। अन्तिम सोम-याग में शास्त्री जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ा। क्योंकि बहुत दिनों से इस याग को किसी ने नहीं किया था; अतः ऋत्विजों को तदनुरूप शिक्षित करने और श्रौतग्रंथों से उसका सम्यक् विधान निकालने में शास्त्री जी को अनेक ग्रंथ देखने पड़े। इन समस्त यागों की सुसम्पन्नता से शास्त्रीजी न केवल साहित्य, दर्शनादि के आचार्य अपितु श्रौतशास्त्र के भी सर्वमान्य आचार्य माने जाने लगे और उनकी चर्चा समस्त भारत में होने लगी।

काशी में असीघाट पर आर्य संस्कृति की सुरक्षा के अधिनायक गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा प्रतिष्ठापित राम मंदिर अब भी वर्त्तमान है। उसी के पार्श्व में काशी का जल-यंत्र विभाग है। सन् १८९० में इसके निर्माण का प्रश्न अधिकारियों के समक्ष आया तो सुविधा और सुव्यवस्था की दृष्टि से अधिकारियों को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि राम मन्दिर की मूर्तियाँ वहाँ से हटाकर अन्यत्र बना दिये जानेवाले नये मन्दिर में स्थापित कर दी जायें। काशी

की धर्मप्राण जनता इस समाचार से त्रस्त हो उठी और स्थान-स्थान पर सभाएँ कर लोगों ने अपना विक्षोभ प्रकट किया। थोड़े समय तक अधिकारी-वर्ग ने दमन-नीति के प्रयोग द्वारा इस धार्मिक आन्दोलन को कुचल देना चाहा किन्तु इससे जनता की क्रोधाग्नि शांत न होकर और भी प्रज्ज्वलित हो उठी। अन्त में तत्कालीन मण्डलाधीश ने एक लोक सभा बुलाई जिसमें गंगाधर शास्त्री जी से व्यवस्था देने की प्रार्थना की गयी। शास्त्री जी नें अनेक शास्त्रीय वचनों का उद्धरण देकर मूर्तियों का हटाया जाना एवं मन्दिर का तोड़ा जाना शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल सिद्ध किया और मण्डलाधीश को इस बात का परामर्श दिया कि मंदिर हटाये जाने आदि की योजना कार्यान्वित न की जाय। इस प्रकार अपने असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से शास्त्री जी ने जनवर्ग और अधिकारिवर्ग को संतुष्ट कर जनसमाज पर आयी हुई आपत्ति का निवारण कर सुयश लाभ किया।

राजकीय सम्मान-प्राप्ति

अँग्रेजों के शासनकाल में पहली जनवरी का दिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसलिए ही नहीं कि इस दिन से उनका नवीन वर्ष आरम्भ होता था प्रत्युत इस दृष्टि से भी कि आज के दिन शासन की दृष्टि में सम्मानित व्यक्तियों को सम्राट् की ओर से उपाधियाँ मिलती थीं। लोग रायबहादुर, रायसाहब और सर आदि उपाधि धारण कर प्रत्यक्ष रूप से शासकों के कृपा-पात्र माने जाते थे। इन उपाधियों की प्राप्ति का सौभाग्य अधिकतर उन लोगों को होता था जो समय-समय पर किसी-न किसी व्याज से उच्च अधिकारियों को निमंन्त्रित कर उनका खूब स्वागत-सत्कार करते रहते थे। देश के अधिकांश भूमि-पति और सेठ-साहूकार, राजे और महाराजे जो इन उपाधियों के लिए लालायित होते, वे अहर्निश अँग्रेज प्रभुओं की प्रसन्नता के लिए प्रयत्नशील रहते थे। अँग्रेज अफसरों के नाम पर सड़कें, अस्पताल, स्कूल-कालेज, क्लब और हाल बनवाते। मन्दिरों और धर्मशालाओं जैसे विशुद्ध धार्मिक भवनों का उनसे उद्घाटन करवाते। इस प्रकार भारत की निर्धन प्रजा का पैसा अनेक उपायों से बटोरा

जाकर पानी की तरह बहाया जाता था। वायसराय और गवर्नर जैसे अत्यन्त उच्च अधिकारी शीतकाल के दिनों में बड़े-बड़े राजाओं और महाराजाओं के अतिथि होते थे। जिनके आतिथ्य में हिंदू-मुसलमान दोनों ही त्याज्य-अत्याज्य की भावना त्याग कर अज, महिष, शूकर, गो, वृषभ आदि का मांस-भोजन विविध रूप से प्रस्तुत करवाते। राज्य से सम्बद्ध वनों में उनके मृगया विहार का सुप्रबंध करते और बिदा करते समय राज्य के उत्तम से उत्तम हीरे और जवाहिरात भेंट में देते थे। विरले ही व्यक्ति ऐसे होते थे जो इस प्रकार की चाटुकारिता के ढंगों से अपरिचित रहकर अपनी विशिष्ट साधना और आराधना में लगे रहते थे और इस प्रकार अपने महान् चरित्र-बल से जनता के हृदय-सम्राट् बन जाते थे। जिससे सरकार को बाध्य होकर उनका सम्मान करने की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत अपनी शासन सत्ता को गौरवान्वित करने के लिए उनके न चाहते हुए भी उन्हें उपाधियों से अलंकृत करना पड़ता था। चरित नायक श्री गङ्गाधर ऐसे ही विरले व्यक्ति थे।

सन् १८८७ में जब महारानी विक्टोरिया का प्रथम जुबली महोत्सव भारतवर्ष में मनाया गया तब शास्त्रीजी को केवल २५ वर्ष की अवस्था में 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्रदान की गयी। इससे पूर्व किसी भी विद्वान् को इतने अल्प वय में यह उपाधि नहीं प्राप्त हुई थी। इसके अनन्तर सन् १९०३ में जब सम्राट् सप्तम एडवर्ड राज्यासनासीन हुए तब तत्कालीन सम्राट् के प्रतिनिधि लार्ड कर्जन ने दिल्ली में बहुत बड़ा दरबार किया जिसमें गङ्गाधर शास्त्रीजी को भी अत्यन्त सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया गया। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि ऐसे महोत्सवों में वे ही व्यक्ति आमन्त्रित होते थे जिनका शासन की दृष्टि से अत्यन्त सम्मान था। उस समय शास्त्रीजी का शरीर शिथिल था, वे दिल्ली नहीं गये। संभवतः इस दृष्टि से अधिक कि वहाँ जाने से उनके दैनिक धार्मिक अनुष्ठान में बड़ी बाधा उपस्थित होती। विश्वनाथ, अन्नपूर्णा और गङ्गा का विरह उन्हें एक दिन के लिए भी सह्य न था। अस्तु, उस दिन काशी में भी मण्डलाधीश की ओर से महोत्सव की व्यवस्था हुई थी और शास्त्रीजी को उस सभा में मण्डलेश्वर ने ससम्मान सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की जाने की

सम्राट् की ओर से घोषणा की। अब तक स्वर्गीय बापूदेव शास्त्री को छोड़कर अन्य किसी भी काशी के विद्वान् को यह सम्मान नहीं प्राप्त हुआ था।

शास्त्रीजी प्रयाग विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य थे और उन्होंने स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा के डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने के लिए लिखे गये निबन्ध का परीक्षक-कार्य भी किया था।

रचनाएँ

शास्त्रीजी की रचनाओं की चर्चा करते समय प्रमुख रूप से तीन पुस्तकों का नाम लिया जा सकता है। शाश्वतधर्म दीपिका, अलिविलास संलाप और हंसाष्टक। इनमें अन्तिम दो इनकी मौलिक रचनाएँ हैं, जिनमें दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों को मनोहर काव्य रूप दिया गया है। संस्कृत साहित्य की विशिष्ट पद्धति का अवलम्बन कर पूर्व पक्ष का प्रतिपादन और उत्तर पक्ष का उपपादन करते हुए क्लिष्टतर शास्त्रीय सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल रूप में स्पष्ट किया गया है। शाश्वतधर्म दीपिका में पुराणों और स्मृतियों से संग्रहीत साधारण धर्म का वर्णन है। सन् १८८७ में जब महारानी विक्टोरिया ने भारतीय साम्राज्य का शासनभार ग्रहण किया तब नगर-नगर में महोत्सव मनाया गया। उस समय काशी के प्रतिष्ठित नागरिक रायबहादुर श्री प्रमदादास मित्र ने काशी में विद्वानों और सम्भ्रांत नागरिकों की एक सभा की आयोजना की, जिसमें सभा की ओर से यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि इस महोत्सव के स्मारक रूप में एक ऐसे ग्रंथ का प्रकाशन होना चाहिए जिसमें सर्वसाधारण के पालन योग्य धर्म का उल्लेख हो। इसके संपादन और लेखन का भार सर्वसम्मति से श्री गङ्गाधर शास्त्री को सौंपा गया। तदनुरूप उन्होंने इसकी रचना कर उस समय प्रकाशित होनेवाले पण्डित पत्र में इसका प्रकाशन करवाया। आगे चलकर यह ग्रंथ पृथक् भी मुद्रित हुआ। इनके अतिरिक्त शास्त्रीजी ने अपने गुरुओं श्री राजाराम शास्त्री और श्री बाल शास्त्री का जीवनवृत्त अत्यन्त रोचक ढंग से लिखकर क्रमशः 'काशीविद्या सुधानिधि' और 'पण्डित पत्र' में प्रकाशित कराया था।

गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष डॉ० थीवो साहब की प्रेरणा और अनुरोध से शास्त्रीजी ने पदमञ्जरी, रस गंगाधर, वाक्यपदीय और तन्त्रवार्त्तिक आदि ग्रंथों पर दुरूह स्थलों के लिए टिप्पणियाँ भी लिखी हैं, जो तत्कालीन पण्डितपत्र में प्रकाशित हुईं। थीवो साहब ने आचार्यप्रवर श्री रामानुजजी के 'श्री भाष्य' का अँग्रेजी में अनुवाद किया है। यह अनुवाद उन्होंने शास्त्रीजी की सहायता से ही किया था। थीवो साहब के अनन्तर जब डॉ० ए० वेनिस सी० आई० ई० ने कॉलेज की अध्यक्षता ग्रहण की तब उन्होंने विजय नगर संस्कृत ग्रंथमाला का प्रकाशन प्रारम्भ कराया। इस माला के सिद्धांतलेश न्यायमञ्जरी, न्याय भाष्य आदि ग्रंथों का विषम-स्थलों पर टिप्पणी युक्त सम्पादन शास्त्रीजी ने ही किया था। यहाँ यह कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि विद्यालय के प्रिंसिपल वेनिस महोदय शास्त्रीजी को अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वे शास्त्रीजी को गुरुजी कहा करते थे। एक बार वेनिस महोदय प्रयाग विश्वविद्यालय में न्याय और वैशेषिक सिद्धांतों पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित हुए थे, उस समय उन्होंने अपने भाषण की भूमिका में बड़े विनीत भाव से यह कहा था कि मेरी जो कुछ योग्यता है वह गुरुवर गङ्गाधर शास्त्रीजी की कृपा का फल है।

दारुण वज्रपात

शास्त्रीजी का जीवन सब प्रकार से सुखी था। विद्वज्जन, साधारण जन और राज समाज में उनको समानरूप से सुयश प्राप्त था, जीवन निर्वाहार्थ अर्थ की भी कमी न थी। ब्राह्मण-वंश में जन्म पाकर तदनुरूप आचार-व्यवहार और कर्म-काण्ड कर सकने के कारण उनका मानस तुष्ट था। पतिव्रता स्त्री, वात्सल्यपूर्ण पिता और सुयोग्य संतति-लाभ इस प्रकार उनके जीवन में पारिवारिक एवं सामाजिक सुखों का अभाव नहीं था; किन्तु नैसर्गिक नियमों के अनुकूल कोई सदा सुखी नहीं रहता और न सदा दुःखी ही। शास्त्रीजी का सुख-शीतल जीवन भी इस नियम का अपवाद नहीं रह सका। सन् १९०४ में उनके ज्येष्ठ पुत्र ढुण्ढिराज शास्त्री का सहसा स्वर्गवास हो गया। ढुण्ढिराज ने साहित्याचार्य

परीक्षा के ५ खण्ड उत्तीर्ण कर लिये थे। अँग्रेजी की परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की थी और शास्त्रीजी के समान ही प्रखर प्रतिभा का परिचय देकर पिता तथा गुरुवर्ग को संतुष्ट कर दिया था। उसके निधनरूपी झञ्झावात से शास्त्रीजी का जीवन-तरु असमय में ही जर्जर हो उठा। उन्होंने इस महान् दुःख को धैर्य पूर्वक सहन किया और अपनी पतिव्रता पत्नी की सांत्वना और शान्ति के लिए राजकीय सेवा से ३ मास का अवकाश ग्रहण कर भारत के तीर्थों का भ्रमण किया। अपनी इस तीर्थ-यात्रा का क्वाचित्क वर्णन उन्होंने 'अलिविलास संलाप' नामक काव्य में किया है। इस पुत्रशोक से शास्त्रीजी के हृदय पर गहरा धक्का लगा। उन्हें संसार से विरक्ति हो गयी और जैसे-तैसे कुछ समय तक नौकरी का निर्वाह कर उन्होंने प्रिंसिपल वेनिस महोदय के अत्यन्त आग्रह करने पर भी उससे अवकाश ग्रहण कर लिया और वेदान्तचिन्तन एवं "विविक्त सेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः" होकर देवतार्चन आदि में सारा समय व्यतीत करते हुए ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपद गुरुवार विक्रम सं० १९७० को इस पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर दिया। धार्मिक जनता विलख उठी। देशव्यापी शोक सभाएँ हुईं और लोगों ने अशान्त मन से उस महान् आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की।

२– महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार शास्त्री

सं.१९०४ से १९६५
१८४७ १९०८

असाधारण प्रतिभा, विलक्षण विद्वत्ता और सर्वोपरि श्रद्धोत्पादक सदाचारिता के कारण जिन्होंने तत्कालीन सुप्रतिष्ठित विद्वत् समाज में ही नहीं, किंतु समस्त भारत में अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य का सिक्का जमा लिया था, उन प्रातः स्मरणीय श्री शिवकुमारजी का जन्म काशी के उत्तर चार-पाँच कोश की दूरी पर स्थित 'उन्दी' नामक ग्राम में विक्रमाब्द १९०४ फाल्गुन कृष्ण एकादशी को हुआ था। इनकी माता का नाम मतिरानी तथा पिता का रामसेवक मिश्र था। ये उच्च कुल के सरयूपारीण ब्राह्मण थे और काशी पुराधीश्वर भगवान् शंकर के अनन्य उपासक। इनके प्रथम चार पुत्र उत्पन्न होते ही मर गये, अतः सन्तान की ओर से दुःखी होकर ये और भी आर्द्रभाव से भगवान् भूतभावन की

उपासना में लग गये। अनन्तर जैसा कि सनातन हिन्दुओं का विश्वास है, इनकी आराधना से प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् ने इन्हें पाँचवें पुत्र के रूप में दर्शन देकर कृतार्थ किया। कहना न होगा कि यह पाँचवें पुत्र श्रीशिवकुमार जी ही थे।

शिवकुमार के जन्म होते ही सूतिकागार में वर्त्तमान स्त्रियों ने देखा कि नवजात शिशु के विशाल भालपट्ट पर अष्टमी तिथि के चन्द्रमा के समान शुभ्र-वर्ण का चिह्न है तथा जिह्वा के अग्रभाग पर त्रिशूल। इस प्रकार के विलक्षण बालक को देखकर पूर्वकाल में मृत चार पुत्रों का ध्यान कर स्त्रियों ने सोचा कि ये चिह्न किसी दुर्दैव के सूचक हैं अतः इस बालक का परित्याग कर देना चाहिए। पं० रामसेवकजी को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने प्रसवकक्ष में जाकर बालक को देखा और उन स्त्रियों को आश्वासन दिया कि यह अमंगल नहीं महामंगल का सूचक है। इसको तुम लोग साक्षात् शिव का रूप जानो।

अनन्तर बड़े लाड़-प्यार से बालक का संवर्धन और पोषण होने लगा। इस प्रकार श्रद्धामयी कुल नारियों के अशेष-स्नेह भाजन बालक शिवकुमार के पांच वर्ष बड़े सुख से व्यतीत हुए; किंतु दुर्भाग्यवश छठें वर्ष के प्रारम्भ होते ही इनके पिता का देहान्त हो गया। जब ये ग्यारह वर्ष के हुए तब बेतिया राज्य की सेवा में संलग्न इनके पितृव्य अपने साथ इन्हें बेतिया ले गये और वहाँ अपने चाचाजी के साथ सुखपूर्वक रहते हुए इन्होंने ज्योतिष पढ़ना प्रारम्भ किया; किन्तु कुछ ही दिन के बाद तत्कालीन विद्वान् श्री अम्बिकाप्रसादजी ने इन्हें ज्योतिष पढ़ने से रोका। अतएव ये श्रीवाणीदत्त चौबे नामक पण्डित से लघुकौमुदी पढ़ने लगे। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी अतः ये पढ़ाये गये विषय को बहुत शीघ्र समझ और कण्ठस्थ कर लेते थे, अनन्तर उसी के ऊपर मनन और चिन्तन किया करते और अनेक प्रकार के प्रश्न अपने गुरुओं से पूछते। उनके उत्तर से मेधावी बालक शिवकुमार को संतोष न होता था। अतः प्रायः १४ वर्ष की अवस्था में ये अपनी गुरुतर-ज्ञान-पिपासा की शान्ति के लिए काशी चले आये और गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में नाम लिखाकर सुलतानपुर

निवासी श्रीदुर्गादत्त पंडित से पढ़ने लगे। इन्होंने अपना प्रथम पाठ लघुकौमुदी के तिङन्त प्रकरण की एध वृद्धौ धातु से प्रारम्भ किया क्योंकि शास्त्रीजी की यह धारणा थी कि वृद्धयर्थक धातु से पढ़ना प्रारंभ करने से उनकी वृद्धि होगी।

छात्रावस्था का संयम और सदाचार

बालक शिवकुमार संस्कृत कालेज से तीन कोस की दूरी पर एक गाँव में रहते थे और वहाँ से प्रातःकाल पैदल आकर वे नित्य अपने गुरु से पाठ पढ़कर मणिकर्णिका घाट जाकर स्नान किया करते थे। अनन्तर सन्ध्योपासनादि से निवृत्त होकर ये जाह्नवी के जल से एक कलश भरकर तन्मयतापूर्वक शिव का स्मरण करते हुए भगवान् विश्वनाथ के मंदिर में आते थे और उस जल से भवानीपति का अभिषेक करते थे। इसके बाद भगवती अन्नपूर्णा के मंदिर में जाकर दुर्गासप्तशती का पाठ करते थे। पुनः घर पहुँचकर भी नित्य श्राद्ध और कुलक्रमागत शिवलिंग का पूजन करते थे। छात्रावस्था से प्रारम्भ किये हुए इस नियम का शास्त्रीजी ने आजीवन अबाध रूप से पालन किया। कहाँ है आज के क्षात्रों में ऐसी तपस्या और श्रद्धा जिसके फलस्वरूप प्राप्त की गयी विद्या बलवती, यशस्करी और अर्थंकरी सिद्ध होती है।

इस प्रकार सनातन श्रद्धा के अनुरूप वागर्थ की प्रतिपत्ति के लिए वागर्थ की भाँति सम्पृक्त पार्वती और परमेश्वर की समाराधना में संलग्न रहकर बालक शिवकुमार ने १८, १९ वर्ष की अवस्था तक व्याकरण शास्त्र का चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर लिया; किंतु तत्कालीन विद्वत्समाज में यशः प्राप्ति के लिए न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्तादि विषयों में भी पारगामिता प्राप्त करना आवश्यक था। अतः शिवकुमारजी ने संस्कृत कालेज के तत्कालीन न्यायवैशेषिकाध्यापक श्रीकालीप्रसाद शिरोमणि नामक बंगाली विद्वान् से न्यायशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया और वेदान्त ज्ञान के लिए दार्शनिक प्रवर श्रीगणेश श्रौतीजी तथा विशुद्धानन्द स्वामीजी की सेवा की और अद्वैतसिद्धि एवं खण्डन खण्ड खाद्य आदि ग्रंथ पढ़े। उस समय के विद्याव्यसनी विद्यार्थी और विद्वान दोनों ही निर्मत्सर भाव से गंगातट पर, देव मंदिरों में एवं श्रीमानों द्वारा अवसर विशेष पर आयोजित

सभाओं में परस्पर शास्त्रार्थ कर अपने अध्ययन का परीक्षण करते रहते थे। यह प्रथा अब भी केवल काशी में प्रचलित है; किंतु अब न तो उस प्रकार का संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन है। न श्रीमानों में संस्कृतज्ञों के प्रति वैसी निष्ठा। अस्तु, शास्त्रीजी ने ऐसे अवसरों पर अपने उत्कृष्ट-कोटि के पाण्डित्य का परिचय देकर तत्कालीन समाज में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। इनकी प्रतिभा से चमत्कृत होकर प्रातः स्मरणीय विद्वद्वरेण्य श्रीबालशास्त्रीजी ने इन्हें बुलाकर अपने गुरु श्री राजारामजी शास्त्री से भी अध्ययन कर लेने के लिए कहा। उस समय श्रीराजाराम जी शास्त्री जरा-जीर्ण हो चुके थे। उनमें इतना सामर्थ्य न था कि दैवी प्रतिभा-सम्पन्न शिवकुमार को संतोषजनक रूप से पढ़ा सकते। अतः शिवकुमारजी ने श्री बालशास्त्री जी से प्रार्थना की कि वे ही उन्हें कुछ दिन पढ़ा दें। शास्त्रीजी ने शिवकुमारजी की बातों की वास्तविकता समझ-कर उन्हें पढ़ाना प्रारंभ कर दिया; क्योंकि विद्वान् को संसार की समस्त सम्पत्ति से बढ़कर मेधावी शिष्य प्यारा होता है और जैसा कि श्रीमद्भागवतकार व्यासजी ने कहा है :—

"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत"

बालशास्त्री जी ने शिवकुमार जैसे स्निग्ध शिष्य को पाकर बड़े प्रेम के साथ व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद आदि ग्रंथों और धर्मशास्त्रादि के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश किया। अनेक शास्त्रों का तत्त्व समवगत कर सुपरिपक्वमति श्रीशिवकुमार ने अन्त में सर्वोपरि विद्वान् श्रीबालशास्त्री जी से अध्ययन कर अत्यन्त आह्लाद का अनुभव किया। यह दैवी सुवर्ण-सुगन्ध-सहयोग था। शास्त्रीजी के लिए अधिकारी शिष्य थे शिवकुमार और शिवकुमार के लिए भी अधिकारी गुरु थे बालशास्त्री जी। इसीलिए विद्वत् समाज में अब तक यह बात सप्रेम कही-सुनी जाती है कि श्री शिवकुमारजी अपना प्रधान गुरु बालशास्त्रीजी को मानते थे।

इस प्रकार विद्याभ्यास में रत रहकर अपने जीवन के २६ वर्ष इन्होंने व्यतीत कर दिये। अनन्तर इनकी नियुक्ति बनारस गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में हुई।

जहाँ इन्होंने चार वर्ष तक अध्यापन कार्य करते हुए यशःश्रवण कर दूर-दूर से आये हुए हजारों छात्रों को अनेक शास्त्रों का अध्ययन कराया; किंतु चार वर्ष के अनन्तर इस कालेज से इनका संबंध छूट गया।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय से संबंध छूट जाने पर जीविका के अभाव में शास्त्रीजी का थोड़ा समय कष्ट से व्यतीत हुआ। इसी बीच एक श्रेष्ठी की बारात में सम्मिलित होकर शास्त्रीजी को दरभंगा जाने का अवसर प्राप्त हुआ। दरभंगा नरेश श्री लक्ष्मीश्वर देव की राज-सभा में उपस्थित होकर आपने वहाँ के पण्डितों से शास्त्रार्थ कर तथा समस्या पूर्त्तियों द्वारा अपने आशुकवित्व और विलक्षण पाण्डित्य का परिचय देकर गुणग्राही नरेश को विस्मय विमुग्ध कर दिया। दरभंगा नरेश ने इन्हें एक सहस्र मुद्रा पारितोषिक रूप में प्रदान की और ससम्मान अपनी सभा का पण्डित बनाया। राज-दरबार से शास्त्रीजी को पुरस्कार रूप में ५०) मासिक मिलने लगा और इस प्रकार जीविकाश्रय पाकर शास्त्रीजी वहाँ एक वर्ष तक सकुटुम्ब रहे।

इस समय काशी में प्रातःस्मरणीय श्री विशुद्धानन्द स्वामी जी का बड़ा सुयश था, उनके त्याग, तेज और तप के प्रभाव से अनेकानेक सामन्त उनकी शिष्यता स्वीकार कर चुके थे, कई एक नरेश उनके श्री चरणों का दर्शन करने के लिए ही काशी आया करते थे। दरभंगा नरेश श्री लक्ष्मीश्वर देवजी भी उनके अन्यतम अनन्य भक्त थे। उन्होंने स्वामीजी की सेवा के निमित्त ५०) मासिक प्रदान करना चाहा; किन्तु स्वामीजी ने अपने लिए द्रव्य की अत्यन्त अनावश्यकता बतलाते हुए देय-द्रव्य के द्वारा काशी में एक संस्कृत पाठशाला खोलने का दरभंगा नरेश को आदेश दिया। आदेश सश्रद्ध शिरोधार्य हुआ और इस प्रकार काशी की अत्यन्त प्रसिद्ध संस्था दरभंगा पाठशाला की स्थापना हुई जिसमें वर्त्तमान काल तक के अनेक लब्धप्रतिष्ठ संस्कृत के विद्वानों ने अध्यापन कार्य कर संस्था के गौरव को बढ़ाया है। पाठशाला के स्थापित हो जाने पर शास्त्रीजी ने दरभंगा नरेश से प्रार्थना की कि उन्हें काशी जाकर उस पाठशाला में अध्यापन-कार्य करने की अनुमति दी जाय। उन्होंने कहा—श्रीमन्! यद्यपि आपकी छत्रच्छाया में मैं यहाँ सकुटुम्ब अत्यन्त आनन्द के साथ

समय यापन कर रहा हूँ। तथापि शैशव से ही जननी-जनक के रूप में समाराधित काशीपुराधीश्वर भगवान् विश्वनाथ और विश्वेश्वरी माँ अन्नपूर्णा के प्रतिदिन के दर्शन सौभाग्य से वंचित रहकर मेरा मन यहाँ संतुष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार शास्त्रीजी का काशी प्रेम जानकर धर्मनिष्ठ श्रीलक्ष्मीश्वर देव ने उनकी प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लिया और शास्त्रीजी उसी ५०) रुपये मासिक पर पाठशाला में अध्यापन कार्य करने लगे। महाराज लक्ष्मीश्वर देव का देहान्त हो जाने पर जब श्रीरमेश्वर देवजी सिंहासनासीन हुए तब उन्होंने शास्त्रीजी का वेतन ७५) रुपये मासिक कर दिया और शास्त्रीजी यावज्जीवन इसी से संतुष्ट रहकर अपना यशः सौरभ चतुर्दिक् विकीर्ण करते रहे।

काशी-प्रेम और त्याग की पराकाष्ठा

जब लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय नियुक्त हुए तब दरभंगा नरेश श्री रमेश्वरदेवजी ने उनका अभिनन्दन करने के लिए कलकत्ते की अपनी कोठी में एक महान् उत्सव का आयोजन कर देश के गण्यमान्य व्यक्तियों को आमंत्रित किया। पण्डित समाज के अग्रणी होने के नाते शास्त्रीजी को भी अपने आश्रयदाता के अनुरोध के कारण कलकत्ते जाना पड़ा। शास्त्रीजी की विलक्षण प्रतिभा और विद्वत्ता का सुयश वहाँ पहले ही पहुँच चुका था, अतः कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति श्री आशुतोष मुखर्जी ने महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथजी तर्कभूषण के द्वारा उनसे सविनय यह कहलाया कि वे ५००) रुपये मासिक वेतन पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद स्वीकार कर लें, किन्तु अपने काशी-वास के प्रेम के कारण शास्त्रीजी ने उनकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। शास्त्रीजी को काशी के प्रति इतना ममत्व धर्म-भावना से तो था ही किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में विद्वत् समाज के बीच रहने का रंग भी कम गहरा न था। अस्तु, दोनों ही दृष्टि से शास्त्रीजी का यह त्याग अनुकरणीय और श्लाघनीय है। खेद है, आज-कल के विद्वानों में यह भावना विलुप्त-सी होती जा रही है।

शास्त्रार्थ के द्वारा दिग्विजय

जिस प्रकार शक्तिशाली सम्राट् अपने अस्त्र-शस्त्र, वीरता और वैभव के द्वारा दिग्विजयी होता है उसी प्रकार निःस्पृह विद्वान् बुद्धि, विद्वत्ता और वाणी के वैभव-बल से दिग्विजयी माना जाता है। शास्त्रीजी छात्रावस्था से ही शास्त्रार्थ के बड़े प्रेमी थे। दरभंगा पाठशाला में रहते हुए उन्होंने समय-समय पर आयोजित शास्त्रार्थ सभाओं में श्रेष्ठ विद्वानों को निरुत्तर किया था। शास्त्रीजी केवल व्याकरण में ही नहीं प्रत्युत वेदान्त विषय में भी अत्यंत व्युत्पन्न थे और शंकर के अद्वैत मत के माननेवाले थे। उन्होंने नाथद्वारा के भारत-मान्य विद्वान् भारत मार्तंड श्री गट्टूलालजी, कश्मीर के राजपण्डित रासमोहन सार्वभौम और महामहोपाध्याय राजधन तर्क पंचानन आदि अनेक महारथियों को वाद में पराजित किया था। एक बार जब शास्त्रीजी कश्मीर गये थे तो वहाँ भी उन्होंने विद्वानों से शास्त्रार्थ कर राजा से उपहार स्वरूप प्रचुर द्रव्य प्राप्त किया था। उस समय शास्त्रीजी के अगाध पाण्डित्य की प्रशंसा भारत के सभी विद्वान मुक्तकंठ से करते थे और संस्कृत विद्यानुरागी नरेश उनके दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते थे। उस समय के बंगाली विद्वान् श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न महोदय ने इनके पांडित्य के सम्बन्ध में शासक वर्ग को परिचय देकर इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी दिलायी थी। शृंगगिरि पीठाधीश्वर जगद्-गुरु शंकराचार्य ने इन्हें 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र-पण्डितराज' की पदवी से अलंकृत करते हुए सुवर्ण-पदक प्रदान किया था। इसी प्रकार वाभरा नरेश ने 'अत्रैव विद्यारसः' इस पद से अंकित सुवर्ण-पदक देकर इनका सम्मान किया था। कलकत्ता की कान्यकुब्ज सभा के द्वारा भी शास्त्रीजी को विद्यामार्त्तंड की पदवी और एक सुवर्ण-पदक प्राप्त हुआ था। इस प्रकार शास्त्रीजी नरेशों, मान्य विद्वानों और अनेक संस्थाओं द्वारा अनेकशः सम्मानित होकर शास्त्रीय क्षेत्र में भारत सम्राट् वन गये थे। एक वार शास्त्रीजी लाहौर गये जहाँ जनता ने इनका वड़ा सम्मान किया। शास्त्रीजी जब रेलगाड़ी से उतरकर घोड़ागाड़ी में वैठे तो श्रद्धालु जनता ने घोड़ों को हटाकर स्वयं ही रथ

खींचना चाहा; किन्तु शास्त्रीजी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक उन लोगों को ऐसा करने से रोका। अनन्तर हिंदू-सभा के विशाल पण्डाल में जस्टिस सर सादीलाल आनरेबुल, राय रामशरणदास बहादुर सी० आई० ई०, लाला हंसराज आदि सरकारी तथा गैर सरकारी नागरिकों एवं सभा में समागत देश के सम्मानित संस्कृतज्ञ विद्वानों की उपस्थिति में शास्त्रीजी का अभिनन्दन किया गया।

किसी विवादास्पद शास्त्रीय विषय पर काशी के विद्वानों की सम्मति और स्वीकृति अन्तिम निर्णय रूप में स्वीकार की जाती है। इस विषय में शास्त्रीजी को उस समय एकाधिपत्य प्राप्त था। देश के विभिन्न भागों से व्यवस्था लेने के लिए लोग उनके पास आते थे। प्रथम महायुद्ध में भारतीय सेना जब मेसोपोटामिया नामक स्थान पर चारों ओर से शत्रुओं से घिर गयी और खाद्यसामग्री का पहुँचना कठिन हो गया तब भारतीय सैनिकों को भोजनार्थ घोड़े का मांस दिया गया। सैनिकों ने इसे स्वीकार न किया और सेनापति से इच्छा प्रकट की कि श्री शास्त्रीजी से अश्व-मांस-भक्षण की व्यवस्था ली जाय। शास्त्रीजी ने आपद् धर्म के अनुकूल अश्व-मांस भक्षण को उपयुक्त घोषित किया। इस प्रकार शिक्षित, अशिक्षित समस्त जनसमूह ने श्री शिवकुमारजी को अपना विद्या और व्यवस्था-गुरु हृदय से मान लिया था।

शास्त्रीजी की प्रतिदिन की जो धार्मिक साधना और आराधना पीछे लिखी जा चुकी है उसको ध्यान में रखते हुए प्रत्येक हिंदू के लिए यह रहस्यमय प्रश्न होगा कि शास्त्रीजी अपने जीवन के अन्तिम समय में निम्नलिखित रूप से कष्टभोगी क्यों हुए ? किन्तु कर्मवाद का सिद्धांत अटल है।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि"

शास्त्रिवर की जैसी तपस्या थी उसके अनुसार उनका विश्वेश्वर से सायुज्य होना निश्चित है। अतः उससे पूर्व प्रारब्धादि सकल कर्मों का अन्त हो जाना आवश्यक था। संभवतः इसी के अनुकूल शास्त्रीजी निधन से पूर्व तीन वर्ष तक पक्षाघात की पीड़ा से अत्यन्त कष्ट मे रहे। अत्यन्त पीड़ा की अवस्था में भी वे

प्रातः नियमपूर्वक श्रीमद्भागवत पढ़वाकर सुनते थे और भगवन्नाम स्मरण-पूर्वक भावावेश में रो पड़ते थे। बीमारी की दशा में कुछ दिन तो वे मणिकर्णिका घाट पर अलवर नरेश के शिवालय में रहे। अनन्तर गंगा की बाढ़ के कारण उन्हें ताहिरपुर नरेश की कोठी में केदार घाट पर ले जाया गया, जहाँ वे दो मास जीवित रहे। मृत्युदिवस से पूर्व के बारह दिन तो शास्त्रीजी प्रायः सन्निपात की दशा में रहे। अनन्तर सौर भाद्रपद द्वितीया शनिवार विक्रमाब्द १९७५ को प्रातः ९॥ बजे शिवकुमार अपनी कुमार-लीला समाप्त कर शिव से जा मिले—उस दिन लोगों को ऐसा लगा जैसे काशी अनाथ हो गयी। वरदा सरस्वती का वरद पुत्र विधि के निर्मम हाथों द्वारा छीन लिया गया। इस प्रकार भारत के पण्डित सम्राट् श्रीशिवकुमार नामशेष रह गये।

शास्त्रीजी के शिष्यों में कुछ नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिनमें से कुछ का परिचय तो पाठकों को इस पुस्तक में भी मिलेगा

जयपुर राज्य के विख्यात विद्वान् श्री मधुसूदन ओझाजी, प्रयाग विश्व-विद्यालय के कुलपति महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा जी, कलकत्ता विश्व-विद्यालय के अध्यापक श्री हारणचंद्र भट्टाचार्य आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वान् आपके शिष्य थे, जिनके कारण आपका सुयश भारत के कोने-कोने में व्याप्त है।

शास्त्रीजी की रचनाओं में दो काव्य मुख्य हैं। प्रथम श्री भास्करानन्दजी का जीवन-चरित सम्बन्धी 'यतीन्द्र जीवन चरितम्'। द्वितीय लक्ष्मीश्वर प्रताप, जिसमें दरभङ्गानरेश के पूर्व पुरुषों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'शिव महिम्नस्तोत्र' के कुछ श्लोकों की तथा परिभाषेन्दुशेखर के कुछ अंश की टीका फुटकर रचनाएँ हैं। वीर शैव संप्रदाय के अनुयायी लोगों के लिए लिङ्गधारण चंद्रिका भी शास्त्रीजी ने लिखी थी।

'यतीन्द्र जीवन चरितम्'—का प्रकाशन प्रयाग के स्वर्गीय रईस श्री महादेव प्रसाद चौधरी ने कराया था। पुस्तक बड़े ही सज-धज के साथ छापी गयी थी। इसे इंडियन प्रेस ने छापा था और श्लोकों का अन्वय तथा भावार्थ श्री जयगोविंद मालवीय, प्रधान संस्कृताध्यापक गवर्नमेंट हाई स्कूल, इलाहाबाद ने किया था। इस काव्य के ललित छंदों में एक ओर तो शास्त्रीजी ने यतिवर का

जीवन चरित लिखने में अपनी निपुणता प्रदर्शित की है दूसरी ओर न्याय वैशेपिकादि के गूढ़ सिद्धांतों का सरल ढंग से प्रतिपादन किया है। परिचय प्राप्त्यर्थं कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं :—

कौपीनं स च केवलं यतिपतिर्बिभ्रद्द्युनद्यास्तटे
ध्यायञ्ज्योतिरखंडमाद्यमनघं तत् सूर्य कोटिप्रभम्।
दूरत्यक्तसमस्तचाटुकटुको वर्षातपादिष्वपि-
च्छायामप्यनुपाश्रयन् सुविचरन् कालं व्यनैषीच्चिरम्।

काशी में यतिवर जिस आनन्द वन में निवास करते थे, उसके प्रसंग में देखिए कितने सरस छन्द लिखे गये हैं।

आनन्दस्य वनं गिरीशनगरी गीता पुरा वित्तमै—
रानन्दोपवनं च तत् प्रविदितं तस्यां यथार्थाह्वयम्॥
मात्रां यस्य समाश्रयन्ति सकलानन्दास्तदानन्दयुक्।
सानन्दं कुरुते स तत्र वसतिं श्री भास्करानन्द वित्॥

तस्यस्तवं परमपूरुषतां गतस्य,
यत् प्राणिनो विदधते किमुतत्र चित्रम्।
आनन्द-वेग-पुलकायित-मञ्जरीका —
स्तं भूरुहा अपि शकुन्तरुवैः स्तुवन्ति।
तस्मिन् न केवलमयं विपिनान्तराले,
ध्यानावधान-हृदये च्चितदीप्तिरस्ति।
तच्छान्तिसंयम-समाक्रम-शांतचित्ता,
आभान्ति किंतु मुनयस्तरवोऽपि तत्र।
हंसावली धवलधाम मनोऽभिरामं,
कामं न तत्र कुरुते नवमल्लिकानाम्।
सूनं न चित्रमिदमित्र विभावयन्ते,
नूनं जना यदिह कामरिपोरभेदः।

विलसत् कुसुमं सुरुवच्छकुनं,
प्रचलत् तरुकं प्रबलत् सुकृतम्।
विलसन् मुनिसङ्घ-मनो विभवं,
वनमेनमसेवत चित्रकथम्।
कुसुमे कुसुमे शकुने शकुने,
क्षितिजे क्षितिजे मनुजे मनुजे।
अवधूत-तमोंऽश-रजोंऽश-चयं,
रज एव विराजति तस्य पदः।

यतिवर की विचारधारा के प्रसंग में दार्शनिक तथ्यों और सिद्धांतों का काव्यरूप देखिए कितनी रोचकता और सरलता के साथ प्रस्तुत हुआ है।

सरहो निवसन् दिवानिशं
मनसेदं परितो व्यभावयत्।
निरधारयदाशु तत्त्वतो
जगद् ज्ञान-विलास-सम्भवम्।
यदि नित्यमिदं भवेज्जगत्
पुरतो भूति निरोधभृत् कथम्।
क्षिति रप्युभयी युतैव किं—
न भवेत् सावयवत्त्व हेतुतः॥
अथ जातमिदं विभाव्यते
सत उत्पत्तिभवैषि वाऽसतः।
उभयस्य न चास्ति सम्भव—
श्चिति वा खस्रजिवापि बाधतः॥
कथमस्ति च कारणार्थना
यदि भूतेः पुरतोऽपि सद् भवेत्।
नहि भाल विशाल दृग्वरः
स्वललाटे नयनं विधित्सति।

अथ चेत् सदपि प्रकाशितं
करणैः कर्त्तुमिहेहते जनः ।
नियमात् सति जन्म तेऽस्ति तत्
कथमाविर्भवनं न सद् भवेत् ॥

असतोऽपि तथा विचारणे—
न च सुस्था भविता जनिक्रिया ।
वद दण्ड मृदादितः कुतो
घट उत्पद्यत एव नो पटः ॥

यदि शक्ति विशेष इष्यते,
सच कार्येण विशेष्यते न वा ।
प्रथमे त्वसता कथं तथा
चरमे तेन कथं व्यवस्थितिः,

इति चिन्तितमेव सूरिभिः
प्रथमाचार्य वरैरनेकधा ॥
न कथञ्चन युक्ति सिद्धता
जगदुत्पत्तिगताऽवतिष्ठते ।

कणभक्षमतं यदीक्ष्यते--
न विचारं सहते तदण्वपि ।
परमाणुमयं हि कारणं
जगतोवक्ति न चास्य संभवः । आदि—

इस प्रकार न्याय वैशेषिकादि मतों का उपपादन और खंडन करते हुए शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है ।

अत्यन्त सरल शब्दों में वैराग्य की भावना उत्पन्न करनेवाले विचारों को देखिए--

अनिशं बहुयत्न साधनैः
परितः पान्ति कलेवरं जनाः ।

तदपि स्ववशे न तिष्ठति
किमिवान्यत् स्वमनोऽनुवर्त्तताम् ।
निखिला अपि ते मनोरथा
हृदि कोलाहलमेव कुर्वते ।
विषयैस्तु निजैः समागमं
न लभन्तेऽब्दशतेऽप्यहो गते ।
दिने दिने कालफणी प्रकोपं—
कुर्वन् समागच्छति सन्निधानम् ।
निपीत मोहासव जातमादो
न भीतिमायाति कदापि कोऽपि ।

इस प्रकार प्रातःस्मरणीय यतीन्द्र भास्करानन्दजी के पावन जीवन-वृत्त को लिखते हुए आनुषंगिक रूप से शास्त्रीय विचारों को काव्य-बद्ध कर शास्त्रि-वर ने १३२ श्लोकों में काव्य की समाप्ति की है ।

अन्तिम श्लोक निम्नलिखित है :—

चरितमिदमुदारं सच्चिदानन्द मूर्त्ते—
र्येमिन इति पवित्रं मानसे संविचिंत्य ।
अकृत शिवकुमारस्तन्निबंधं स्वपित्रो-
श्चरणकमलपुण्यध्यानलब्धावलम्बः ॥
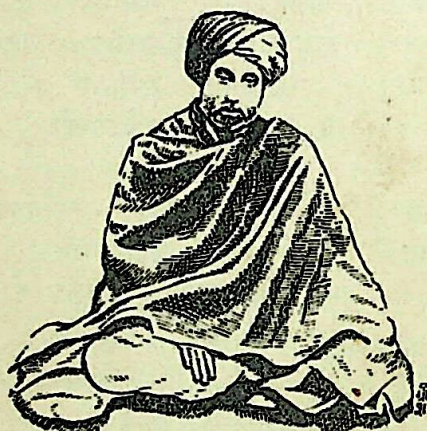
३- महामना श्री कैलासचन्द्र शिरोमणि

सन् १८५२ ई — सन् १९०८ ई

बङ्गाल के वर्त्तमान वर्द्धमान (वर्दवान) जिले के अन्तर्गत 'धात्री' नाम का एक छोटा-सा गाँव है। शिरोमणिजी के पूर्वज यहीं के रहनेवाले राठीय श्रेणी के भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। मुखोपाध्याय उनकी वंशीय उपाधि थी। शिरोमणि के पितामह आदि उच्च कोटि के विद्वान् थे और अध्यापन कार्य के द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। ऐसे शिक्षित और पवित्र विद्वत्कुल में शकवर्ष १७५२ सौरमाघ की ५ वीं तिथि को शिरोमणिजी का जन्म हुआ था। इनकी माता का नाम आदरमणि और पिता का घनश्याम था। ये ५वें वर्ष गाँव की पाठशाला में मातृ-भाषा की शिक्षा के लिए बैठाये गये थे जहाँ थोड़े ही समय के अनन्तर इन्होंने वाचन में अच्छी गति प्राप्त कर ली। उसके बाद ये अपने विद्वान् पितृव्य श्रीजनार्दन तर्कवागीश के पास व्याकरण, कोष और काव्य पढ़ने लगे। इनकी यह पढ़ाई अठारह वर्ष की अवस्था तक चलती रही। इसके बाद न्याय

और वैशेषिक शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करने की इच्छा से ये ग्राम के समीपवर्ती देवीपुर नामक स्थान में गये जहाँ ८० वर्ष से भी अधिक वृद्ध श्रीहरचंद्र न्यायवागीश से इन्होंने 'सामान्य निरुक्ति' तक अध्ययन किया। बाद में ये घर लौट आये और पिता ने इनका विवाह श्री तरंगिणीदेवी के साथ कर दिया। थोड़े दिन घर रहकर ये बंगदेश के प्राचीनतम और सुप्रसिद्ध विद्यापीठ नवद्वीप (नदिया शांतिपुर) में आये और न्यायरत्न गोलोकनाथ जी तथा प्रसन्नचन्द्र तर्करत्न से अध्ययन कर न्याय और वैशेषिक शास्त्र में इन्होंने प्रकृष्ट पाण्डित्य प्राप्त किया। यहीं शास्त्रार्थ में सर्वत्र विजयी होने के कारण विद्वत्समाज ने इनको 'शिरोमणि' की उपाधि दी थी जिससे ये आजीवन विख्यात रहे।

नवद्वीप से लौटकर इन्होंने अपने ग्राम में ही प्रायः ३ वर्ष तक अध्यापन कार्य किया। अनन्तर मुंसिफ परीक्षोत्तीर्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता की सहसा मृत्यु हो जाने के कारण तथा पुत्रशोक से विह्वल माता के भी प्राण त्याग कर देने पर ये अत्यन्त शोकाकुल हुए और मनःशान्ति के निमित्त तारिणीचरण तथा वरदाकान्त नाम के दो शिष्यों के साथ अपने गाँव से चलकर, अपने मित्र राजकृष्ण सिंह से मिलने पटना आये। वहाँ उनसे भेंट न होने के कारण ये मुंगेर आये ; किन्तु मित्र की सहायता से अभीष्ट सिद्धि को असम्भव देखकर इन्होंने अशरण-शरण भगवान् विश्वनाथ की शरण लेने का दृढ़ संकल्प किया और द्रव्य के अभाव में पैदल, नाव और गाड़ी द्वारा अपनी यात्रा समाप्त की। काशी में इनका कोई परिचित न था। अतः घूमते-घूमते ये किसी प्रकार स्वामी विशुद्धानन्दजी के मठ में पहुँचे; जहाँ अपनी पुस्तकें आदि रखकर ये गंगास्नान को चल पड़े। भोजन बनाने आदि का स्थान न पाकर उस दिन वे केवल गंगाजल पान कर रह गये। इधर स्वामीजी ने भी गृहस्थाश्रमी युवक का सन्यासि-मठ में रहना अनुचित बतलाया और स्थान खाली कर देने को कहा। इस विषम संकट में पड़कर इन्होंने आर्त्त मन से भगवान् का स्मरण किया। भगवान् के यहाँ आर्त्त मन से की गयी प्रार्थना कभी विफल नहीं होती; गजेन्द्र और द्रौपदी के प्रसंग इसके अकाट्य प्रमाण हैं ! ऐसा प्रतीत होता है भगवान् ने इनकी प्रार्थना सुन ली। क्योंकि उस दिन जब इन्होंने अपने शिष्य

को भोजन सामग्री लाने के लिए बाजार भेजा तो उस शिष्य की शिरोमणिजी के अन्यतम सतीर्थ्य श्रीवैकुण्ठनाथ न्यायरत्नजी से अकस्मात् भेंट हो गयी। उसके द्वारा शिरोमणिजी का वृत्तांत सुनकर वैकुण्ठनाथजी अगस्त्यकुण्ड निवासी रामदास भट्टाचार्यजी के पास आये और उनको लेकर शिरोमणिजी से मिले। अनन्तर रामदास भट्टाचार्यजी उन्हें अपने घर ले आये और अत्यन्त स्वागत-सत्कारपूर्वक अपने घर ३-४ दिन रक्खा। पुनः शिरोमणिजी के आग्रह करने पर उनके लिए एक भाड़े के मकान की व्यवस्था कर दी, जहाँ शिरोमणिजी स्वच्छन्दतापूर्वक रहने लगे।

शिरोमणिजी नित्य प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर गंगास्नान के लिए चले जाते। अनन्तर विद्यागुरु विश्वनाथ और समस्त विद्याधीश्वरी भगवती अन्नपूर्णा के दर्शन कर घर आकर छात्रों को पढ़ाना प्रारम्भ कर देते। इनके पाण्डित्य पर मुग्ध प्रौढ़ छात्रों द्वारा इनकी ख्याति विद्वत्समाज में बढ़ी और अनेक विद्वान् इनके प्रशंसक बन गये। इस समय काशी में परिव्राजकाचार्य द्राविड़ श्री अच्युतानन्दजी वेदान्त के विख्यात विद्वान् थे। शिरोमणिजी से परिचित हो जाने पर अच्युतानन्दजी ने उनसे न्याय और वैशेषिक का अध्ययन प्रारम्भ किया और शिरोमणिजी ने स्वामीजी से वेदान्त का पाठ पढ़ा। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में वेदान्त शास्त्रों में भी निष्णात होकर शिरोमणिजी शास्त्रार्थ सभाओं में भाग लेने लगे और अपने प्रखर पाण्डित्य का प्रदर्शन कर न्याय शास्त्र के अग्रणी विद्वानों में प्रतिष्ठित हुए। इनके व्यापक पाण्डित्य का सुयश सुनकर श्री बापूदेव शास्त्री ने बनारस गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में इनको नियुक्त कराकर कालेज का गौरव बढ़ाना चाहा। प्राचीन काल में गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के प्रति लोगों की अत्यन्त सम्मान पूर्ण धारणा का यही मुख्य कारण था कि वहाँ संस्कृत साहित्य सम्बन्धी समस्त विषयों के अत्यन्त उच्चकोटि के विद्वान् नियुक्त थे। बापूदेव शास्त्री का तत्कालीन अधिकारि-वर्ग में प्रायः समस्त भारत में बड़ा मान था। अतः कालेज में एक नैयायिक का स्थान रिक्त होते ही उन्होंने इनकी नियुक्ति करा दी। प्रारम्भ में यह नियुक्ति केवल तीन मास के लिए ही हुई थी और वेतन भी इनके ज्ञान-गौरव के कारण ३५) से

बढ़ाकर ४०) रुपये किया गया था किन्तु छात्र वर्ग, सहकारी अध्यापक वृन्द एवं तत्कालीन प्रधान अध्यक्ष श्री ग्रिफिथ महोदय की परितुष्टता से ये उस पद पर स्थायी कर दिये गये।

इस प्रकार जीविकोपार्जन की ओर से निश्चित होकर श्री शिरोमणिजी एकाग्र मन से विद्यादान करते हुए अहर्निश वर्द्धमान यश का अर्जन करने लगे। इनके सुयश से संतुष्ट होकर महारानी विक्टोरिया ने इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी से अलंकृत किया। यह पदवी इन्हें १८९६ में मिली। विद्यादान में अनवरत निरत शिरोमणिजी जब ५५ की अवस्था के हुए तब राजकोय नियमानुसार उनके अवकाश ग्रहण का प्रश्न अधिकारियों के समक्ष उपस्थित हुआ परंतु तत्कालीन अध्यक्ष आर्थर वेनिस ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक इनको अवकाश ग्रहण करने से रोका। वेनिस साहब ने शिरोमणि महाशय से न्याय और वैशेषिक शास्त्र का अध्ययन किया था। अतः वे ही मुरारि कवि के शब्दों में—

"आपाताल निमग्न पीवर तनुर्जानाति मन्थाचल:

इनके शास्त्रीय पाण्डित्य को भली भाँति समझते थे। उन्होंने अपनी आस्था के अनुरूप शिरोमणिजी को कालेज का गौरव बढ़ानेवाला व्यक्ति माना। वेनिस महोदय की विशेष कृपा से शिरोमणिजी के लिए देर-सवेर आने का कोई बंधन न था। गुरुदेव को गमनागमन में कष्ट न हो, इसके लिए भी वेनिस महोदय कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करते रहते थे। इस प्रकार इनके नियत समय से अधिक कार्य करते रहने पर किसी व्यक्ति विशेष ने तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन को इस कार्य का अनौचित्य सुझाया। उन्होंने प्रांतीय गवर्नर लाटूश महोदय से इसका स्पष्टीकरण माँगा। इस पर गवर्नर साहब ने कालेज में स्वयं आकर शिरोमणिजी की सन्नद्धता और शास्त्र पटुता का निरीक्षण किया। पुनः उनकी ओर से ही यह निर्णय हुआ कि शिरोमणिजी जब तक चाहें कॉलेज में कार्य कर सकते हैं। उनके लिए अवस्था की कोई अवधि निश्चित नहीं की जाती। इस भाँति शिरोमणि महाशय ने ४४ वर्ष तक सरकारी नौकरी की; अनन्तर सन् १९०७ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र के निधन से मानव स्वभाव सुलभ शोक से

अभिभूत होकर उन्होंने वेनिस साहव तथा अन्य लोगों के सतत अनुरोध करते रहने पर भी सेवावृत्ति से अवकाश ग्रहण कर लिया। इस पुत्रशोक के दारुण दुःख को न सहन कर सकने के कारण उनका जरा-जर्जर शरीर जगत् में व्याप्त पंचतत्वों से पृथक्-पृथक् एकाकार हो गया। उनके देहान्त से उस समय समस्त भारत के पण्डित समाज में अत्यन्त शोक छा गया।

इनकी धर्मनिष्ठा के विषय में काशी के वयस्क पण्डित समाज में आज भी यह बात कही-सुनी जाती है कि एक बार थियासाफी धर्म एवं "होमरूल" की प्रवर्तिका स्वर्गीया एनीबेसेण्ट ने अपने पति के श्राद्ध के दिन इनके उद्देश्य से संकल्प कर सीधा भेजा। शिरोमणिजी को उसे देखकर बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने उसी समय उसे लौटा दिया। अनन्तर इस ध्यान से कि उनके निमित्त दिये गये श्राद्ध-संकल्प से भी उनकी आत्मा पर कुछ अपावन संस्कार हुआ होगा, उन्होंने मुण्डनादि के अनन्तर गंगा स्नान कर इसका प्रायश्चित्त किया।

इनके सहस्र-सहस्र शिष्यों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय नाम ये हैं—म० म० लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़, म० म० प्रमथनाथ तर्कभूषण, वामाचरण भट्टाचार्य तथा आदित्यराम भट्टाचार्य—प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के दिवंगत अध्यक्ष।
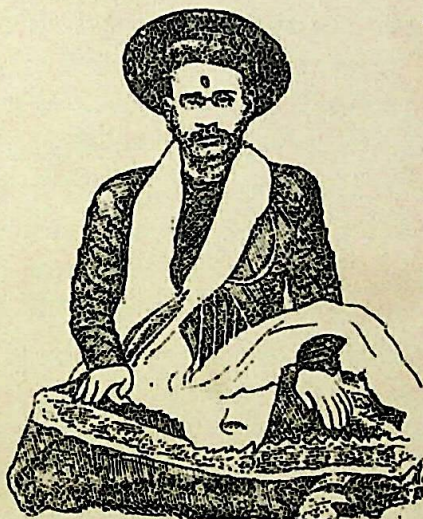
४–महामहोपाध्याय भारद्वाज श्रीदामोदर शास्त्री

संवत् १९०४ (१८४७) से – सन् १९०९ तक

वरदा वीणा-विहारिणी के वरद पुत्र श्रीदामोदर शास्त्री के पूर्वज ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत आरोण नामक ग्राम के रहनेवाले थे। विशुद्ध आचार-विचार और सद्व्यवहार तथा शास्त्रीय पाण्डित्य के द्वारा उन लोगों ने लोक-सम्मान के साथ ही राज-सम्मान भी प्राप्त किया था। शास्त्रिवर के पितामह श्रीहरिरामजी ने काशी आकर आयुर्वेद के द्वारा महती ख्याति प्राप्त की थी। रोगातुर राजाओं और रङ्कों की उनके द्वार पर सदा भीड़ लगी रहती थी। इनके पुत्र भारद्वाज श्री बालकृष्ण शास्त्री अपने समय के प्रख्यात वैयाकरण थे। उन्होंने शब्देन्दुशेखर की टीका भी लिखी थी। इनके चार पुत्रों में से तृतीय श्रीदामोदर शास्त्री थे। इनका जन्म विक्रम संवत् १९०४ की कार्तिक शुक्ल नवमी को

आरोण ग्राम में ही हुआ था। उपनयन के अनन्तर पूज्य पिता से ही वेदादि का अध्ययन करते हुए इन्होंने अपने जीवन के सत्रह वर्ष अपने ग्राम में ही व्यतीत किये। अनन्तर दुर्वासा के समान प्रचण्ड क्रोधी पिता के स्वभाव और व्यवहार से व्यथित होकर इनके बड़े भाई श्री राम शास्त्री जी पढ़ने के व्याज से जब काशी आने लगे तब अपने अनुज श्रीगोविंद शास्त्री के साथ दामोदरजी भी काशी चले आये। ज्येष्ठ श्रीराम शास्त्री जी की अवस्था इस समय चौबीस वर्ष की थी और गोविंदजी की चौदह। बड़प्पन के उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए श्री राम शास्त्री ने अपने अध्ययन को गौण बनाकर अनुजों की शिक्षा के लिए विशेष चिंता की। जब कि क्रोधी पिता ने बालकों के प्रस्थान के समय पाथेय का भी प्रबंध नहीं किया था, तब प्रवास काल के भरण-पोषण की उनसे आशा ही क्या की जा सकती थी? ऐसी दशा में अगणित क्लेशों को सहन करते हुए श्री राम शास्त्री इधर-उधर से किसी प्रकार अन्नादि संग्रह कर प्रेम पूर्वक दोनों भाइयों का भरण-पोषण करते रहे।

उस समय बाल-सरस्वती-स्वरूप श्री बाल शास्त्री रानडे काशी के मूर्धन्य विद्वान् थे। राम शास्त्री ने अपने अनुजों को ले जाकर उन्हीं के श्री चरणों में अर्पित कर विद्यादान की प्रार्थना की, जिसे शास्त्रिवर ने सहर्ष स्वीकार किया। अनन्तर अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण चरितनायक श्रीदामोदर ने सुप्रसन्न गुरुवर से अशेष विद्याओं के रहस्य को स्वल्प काल में ही अवगत कर लिया और उनके विशेष आदेश के अनुसार स्वयं भी प्रतिदिन समागत, श्रद्धानत शिष्यों को विद्यादान करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार अध्यापन प्रारंभ कर भी उन्होंने अपना अध्ययन नहीं बंद किया। वे नित्य प्रातः गुरु-मुख से वेदांत, न्याय आदि दर्शनों का समभ्यास करते हुए सायङ्काल के समय गृहागत विद्यार्थियों को पढ़ाकर सुयश अर्जन करने लगे। इसी बीच अपनी माता के देहान्त का दुःखद समाचार पाकर तीनों भाई ग्राम जाने-न-जाने के असमंजस में पड़ गये। अन्ततोगत्वा आर्थिक क्लेश और यात्रा को अध्ययन के लिए दीर्घकालीन विघ्न मानकर न जाने का ही निश्चय रहा। इधर वृद्ध पिता ने पत्नी के अभाव में पुत्र-वधुओं के भरण-पोषण को झंझट समझते

हुए राम शास्त्री और दामोदर शास्त्री की पत्नियों को भी काशी भेज दिया। गरीबी में आटा गीला वाली कहावत चरितार्थ हुई। यहाँ तीनों भाइयों को अपना ही जीवन-निर्वाह कठिनाई से करना पड़ रहा था उसमें यह वृद्धि एक नवीन समस्या बन गयी। किंतु अपनी ज्येष्ठता के अनुरूप श्री राम शास्त्री जी ने धैर्य के साथ सब सुव्यवस्था कर ली। इस व्यवस्था के दो मास भी पूरे न हो पाये थे कि श्रीदामोदर जी की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। कुछ ही दिनों के अनन्तर गाँव से मँझले भाई का पत्र आया कि पिता जी वार्धक्य-सुलभ रोगों से आक्रांत होकर शय्या सेवन कर रहे हैं। इस बार पिता की रुग्णावस्था का अमङ्गलरूप अनुमान कर श्री रामशास्त्री दामोदर शास्त्रीजी के साथ गाँव को चल पड़े।

ग्वालियर पहुँचकर दामोदर शास्त्रीजी ने राजदरबार के प्रतिष्ठित विद्वानों को शास्त्रार्थ को चुनौती दी। सभा का आयोजन हुआ और तीन दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। राजसभा के सभी पंडित क्रमशः परास्त हुए और विजयश्री ने दामोदर का वरण किया। श्रद्धालु नरेश ने जब यह संवाद सुना तो उनको अपने ही प्रांत के इस पण्डितप्रवर के सम्मान की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। सुन्दर और सुसज्जित शिविका पर आरूढ़ कराकर वे राजदरबार में बुलाये गये, जहाँ महाराज ने सिंहासन से स्वयम् उठकर उनका स्वागत किया और अपने ही आसन पर बिठाया। बिदाई के समय ५००) रु० और दुशाले की जोड़ी भेंट में मिली। ऐसे समय राम शास्त्रीजी को जो हर्ष हुआ उसका अनुभव भरत सरीखा भाई ही कर सकता है। प्रसन्न मन से दोनों भाई गाँव गये। पिता को विश्वास न होता था किंतु राम शास्त्री से सविस्तर सब वृत्तांत जानकर उन्होंने दामोदर को आलिंगन कर आशीर्वाद दिया। गाँव में कुछ ही दिन टिक कर सब भाइयों ने पिता को लेकर काशी को प्रस्थान कर दिया। काशी पहुँचने के थोड़े ही दिन के बाद इनके पिताजी का भी देहांत हो गया।

कस्यैकान्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा—की सदुक्ति के अनुसार उपरि वर्णित दुःखों की परम्परा के अनन्तर सुख का समय आया और काशीस्थ राजकीय संस्कृत पाठशाला के तत्कालीन अध्यक्ष श्री नेस्फील्ड महोदय ने ईसवीय

सन् १८७९ में इनकी नियुक्ति व्याकरण तथा दर्शनाध्यापक के रूप में कालेज में की। कालेज का सम्मान बढ़ा, शिष्यों की संख्या बढ़ी।

शास्त्रार्थों में विजयी होने के कारण पण्डित समाज में ये सभासिंह के नाम से प्रख्यात थे। अपने गुरु के साथ और एकाकी भी अनेक नगरों और छोटी-बड़ी रियासतों में जा-जाकर आपने अनेक सम्मानित पण्डितों को पराजित किया था। ऐसे अनेक शास्त्रार्थ संवादों में ऋद्धी झा और बच्चा झा जी के साथ हुए शास्त्रार्थ का प्रसंग विद्वानों के बीच बहुत प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार कानपुर और प्रयाग के मध्य में स्थित फतेहपुर नामक नगर में एक संन्यासी के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। तीसरे या चौथे दिन संन्यासीजी सभा में उपस्थित नहीं हुए और इस प्रकार इनको विजय पद प्राप्त हुआ; किंतु इसके बाद ही २१-२२ दिन तक आप मूर्छितावस्था में पड़े रहे। ऐसा समझा जाता है कि उस संन्यासी ने कोई तांत्रिक प्रयोग कर दिया था। अस्तु, तत्कालीन प्रख्यात वैद्य अर्जुन मिश्र की चिकित्सा से आप पुनः स्वस्थ हो गये; किंतु अब वाद-सभाओं में भाग लेने का इनका उत्साह मंद पड़ गया।

गुरु-सेवा और दिनचर्या

हिंदू संस्कृति में गुरु को जो गौरव प्रदान किया गया है वैसा गौरव अन्य किसी भी संस्कृति में नहीं पाया जाता। अपने यहाँ गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है और गुरु ही महेश्वर है। वह परब्रह्म का साक्षात् स्वरूप है। सर्जरी में जिसकी कोई चिकित्सा नहीं उस अंधे की भी आँखें गुरु की ज्ञानांजन-शलाका के स्पर्श से सद्यः खुल जाती हैं और उसे समस्त विश्व करतलगत आमलक की भाँति स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। दामोदर शास्त्री जैसा आस्तिक शिष्य यदि बाल-शास्त्री जैसे गुरु को पाकर उनकी पूजा और सेवा महेश्वर के समान ही करे तो इसमें आश्चर्य क्या! यह नित्य गुरु की शय्या पर आस्तरण आदि स्वयं ही बिछाया करते थे। अनन्तर जब तक गुरु निद्राभिभूत नहीं हो जाते थे आप उनके चरण दबाया करते थे। अवकाश के दिनों में कुछ शिष्यों को साथ लेकर

आप नगर से वाहर दो-चार कोस दूर जाकर गुरु के दैनिक कर्म-काण्ड के लिए कुश और यज्ञ की लकड़ियाँ सिर पर लाद कर ले आया करते थे। इस प्रकार अपनी अपूर्व गुरु-भक्ति के लिए भी शास्त्रिवर प्रख्यात और विख्यात थे।

स्मार्त्त और वैदिक कर्मानुष्ठानों में शास्त्रीजी की उदार श्रद्धा थी। वे संकटा देवी के सिद्ध उपासक थे। प्रतिदिन प्रायः दो और ढाई के बीच उठकर आप मणिकर्णिका घाट पर स्नान के लिए चले जाते थे और वहाँ बारह सौ गायत्री का जप कर श्री संकटा जी के मन्दिर में पूजन करते थे और वहीं सप्तशती का पाठ समाप्त कर नियमानुकूल समय पर कालेज पहुँच जाते थे। उस समय संस्कृत कालेज सदा ६॥ वजे प्रातःकाल से ही लगता था। पाठशाला से लौटकर आप मध्याह्न-संध्या करते थे; अनन्तर महाभारतादि धर्म-ग्रंथों का पारायण। पुनः १ से ५ वजे तक गृहागत शिष्यों को पढ़ाकर आप सायं सन्ध्या करने लगते थे। यह संध्योपासना भी लम्बी होती थी। रात्रि में आप थोड़ा ही भोजन कर ९ वजे के लगभग सो जाते थे। खेद है, आज के रिसर्च स्कालरों में इतना संयम, सदाचार और स्वाध्याय थोड़े समय के लिए भी देखने को नहीं मिलता।

त्याग और सम्मान

काशी के विद्वत्समाज में यह प्रसिद्ध है कि एक वार जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य के प्रतिपक्षियों ने वाद में उनको परास्त घोषित करने के लिए शास्त्री जी से अनुचित प्रार्थना की और उत्कोच के रूप में २०-२५ हजार रुपये का प्रलोभन प्रस्तुत किया। शास्त्रिवर ने इस प्रस्ताव को अत्यन्त निन्दनीय कहकर अस्वीकृत कर दिया। इस सम्वाद को जानकर श्री शंकराचार्य जी ने इनको स्वर्णपदक के साथ 'अशेष वाङ्-मय-पारग-वैयाकरण-केसरी' की उपाधि से विभूषित किया। सन् १८९९ में लार्ड कर्जन के कार्यालय में इनको सम्राज्ञी विक्टोरिया की ओर से महामहोपाध्याय की पदवी प्रदान की गयी थी।

परिवार और शिष्य

दो पत्नियों का देहान्त हो जाने पर गुरु के अत्यन्त आग्रह करने के कारण शास्त्रीजी को तीसरा विवाह करना पड़ा, जिससे इनके पाँच पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। इनके पितृतुल्य भ्राता श्री राम शास्त्रीजी का देहावसान सन् १९०५ में हुआ। इसके अनन्तर सन् १९०८ में आप राजकीय सेवा से लोगों के अनुरोध करने पर भी विश्रान्त हो गये। प्राचीन ग्रन्थ ही अध्ययन के लिए पर्याप्त हैं, ऐसा कहकर आपने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। सेवा-कर्म से अवकाश ग्रहण करने पर आप अपना प्रायः सारा समय भगवती संकटा की समाराधना में व्यतीत करने लगे और अन्तिम समय केवल ५ दिन बीमार रहकर सन् १९०९ को भाद्रकृष्ण श्री कृष्णाष्टमी को प्रातः अपने पांचभौतिक शरीर का परित्याग किया।

५— महामहोपाध्याय श्रीरामकृष्ण शास्त्री

(पटवर्धन श्रीतात्या शास्त्री)

प्रातः स्मरणीय श्रीरामकृष्ण शास्त्रीजी तात्या शास्त्री के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके पूर्वज मध्यप्रदेशवर्ती नागपुर के निवासी थे। उन्होंने अपने पौरुष और पाण्डित्य के द्वारा राज-सम्मान उपलब्ध किया था। जिससे उनको राजकीय वृत्तियाँ मिलती रहीं। शास्त्रिवर के पिता श्रीमहादेव भट्टजी को उनकी जीवनावधि तक १२००) रुपयों की वार्षिक-वृत्ति मिलती रही। अनन्तर १८५४ में अँग्रेजों की प्रभुता का प्राधान्य होते ही वह क्रमशः आधी और तिहाई होती चली गयी। शास्त्रिवर का जन्म नागपुर में ही विक्रम सं० १९०२ की आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी बुधवार के दिन हुआ था। जब यह ढाई वर्ष के थे

तभी इनके माता-पिता अकाल में ही काल-कवलित हो गये और इनके पितृव्य श्री नागेश्वर भट्टजी ने इनका लालन-पालन किया। ५ वर्ष की अवस्था में यह अपने पितृव्य के साथ काशी आये। यहाँ ८ वर्ष की अवस्था में इनका उपनयन संस्कार किया गया। अनन्तर कार्यवश पितृव्य श्रीनागेश्वरजी जब नागपुर गये तब इनको भी लेते गये और ये वहाँ १४ वर्ष की अवस्था तक काव्य-कोशादि का अध्ययन करते रहे। इसके बाद ये उन्हीं केसाथ पुनः काशी आये और आजीवन यहीं रहे। दो वर्ष तक कर्मकाण्ड का अध्ययन करने के अनन्तर १६ वर्ष की अवस्था में इनकी ज्ञान-पिपासा अत्यधिक बलवती हो उठी और इन्होंने विद्या-गुरु विश्वनाथ की नगरी के पण्डितेन्द्र श्रीबाल शास्त्री रानडे के श्रीचरणों का आश्रय लिया। अपनी प्रखर प्रतिभा और तेज से गुरु को संतुष्ट करते हुए इन्होंने ६-७ वर्ष के भीतर ही व्याकरण और दर्शन शास्त्र आदि का सम्यक् अभ्यास कर लिया। गुरुदेव प्रसन्न हो उठे। उन्होंने यशस्वी होने का आशीर्वाद दिया। इनकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। वाद-सभाओं में जा-जाकर इन्होंने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त करना प्रारम्भ किया और प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी अनुदिन वर्द्धमान ख्याति को सुनकर दरभंगा-नरेश श्री लक्ष्मीश्वरदेवजी ने इनकी नियुक्ति दरभंगा पाठशाला में की। यहाँ रहकर इन्होंने अपने अध्यापन-कौशल और पांडित्य के द्वारा पण्डित समाज में और भी अधिक ख्याति प्राप्त की। उस समय गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष श्री थीबोसाहब थे। उन्होंने बड़े आदर के साथ इनको आमंत्रित किया और इनकी नियुक्ति व्याकरण तथा दर्शनाध्यापक के पद पर कालेज में कर दी। यहाँ इनकी प्रतिष्ठा और बढ़ी और सन् १९०९ ई० में इनको सरकार द्वारा प्रकर्ष पाण्डित्य की सूचक महामहोपाध्याय पदवी प्राप्त हुई।

काशी के उस समय के धुरंधर पंडितों में रामकृष्णजी ही ऐसे विद्वान् कहे जा सकते हैं जिन्होंने ग्रंथ-प्रणयन और प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान दिया। इन्होंने नागेश भट्ट के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'परिभाषेंदु शेखर' पर 'भूति' नाम की टीका लिखी और उसे अपने ही द्वारा संस्थापित मुद्रणालय में मुद्रित किया। इस टीका का विद्वानों में बड़ा समादर हुआ। अब तक इसके अनेक संस्करण हो

चुके हैं और व्याकरण का अध्ययन करनेवालों के लिए यह आवश्यक पोथी मानी जाती है। शब्देन्दु शेखर की इन्होंने कोई टीका लिखी है किंतु वह प्रकाश में नहीं आयी। शास्त्रिवर बहुत व्यवहार कुशल थे और केवल नौकरी के ऊपर ही निर्भर रहना श्रेयस्कर नहीं समझते थे। उन्होंने अपने वुद्धिवैभव से पुस्तकों के प्रकाशन कार्य द्वारा प्रचुर सम्पत्ति अर्जित की और काशी के दुर्गाघाट पर अपना निजी मकान वनवाया जो अपनी दृढ़ता और विशालता के कारण पटवर्द्धन दुर्ग के नाम से विख्यात है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुकूल संस्कृत-वाङ्मय का वड़े से बड़ा विद्वान् केवल ज्ञान-वल पर ही पूजित और सुसम्मानित नहीं ो सकता। उसमें आचार-विचार और कर्मकाण्ड का भी होना आवश्यक है। शास्त्रीजी का प्रभूत सम्मान उनकी प्रवल धर्मनिष्ठा और आचार के कारण भी था। वे नित्य व्राह्ममुहूर्त्त में पंचगङ्गाघाट पर जाकर स्नान कर घण्टों पूजापाठ में लगे रहते थे। अनन्तर घर आकर अग्नि को आहुति प्रदान कर तव पाठशाला जाते थे। वे शिव के एकान्तभक्त थे।

कर्म का रहस्य अज्ञात है। नहीं कहा जा सकता, किस समय किसके प्राक्तन-कर्म का कैसा फल मिलेगा। शास्त्रीजी का जीवन अत्यन्त सुखी था। स्वास्थ्य था, धन था पुत्र थे, परिवार था और सबसे बड़ा धन धर्म और सदाचार भी था, किंतु वृद्धावस्था के समीप उनको दारुण दुःखों का सामना करना पड़ा। इनके दो सुयोग्य पुत्रों का देहांत क्रमशः सम्वत् १९६० और १९७३ में हुआ। इनमें जेष्ठ श्रीनारायण शास्त्री व्याकरणाचार्य थे और पिता के अनुरूप यशस्वी और प्रवंधपटु थे। द्वितीय श्रीवालकृष्ण शास्त्रीजी व्याकरण तीर्थ परीक्षोत्तीर्ण थे। इन दोनों के निधन से शास्त्रिवर का शरीर जर्जर हो उठा किन्तु अपनी गुरुतर ज्ञानराशि का अवलम्ब लेकर इन्होंने अपनी मानसिक शान्ति नहीं खोयी और अपने धर्म-कर्म एवम् आचार के परिपालन में तत्पर रहे। द्वितीय पुत्र के निधन के ३ वर्ष वाद विक्रम सम्वत् १९७६ में शास्त्रिवर ने वड़ी शांति के साथ संध्यावन्दन के अनन्तर प्रातःकाल इस पांचभौतिक शरीर का परित्याग कर दिया।

महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री, सी० आई० ई०

सन् १८२१ से सन् १८९० तक॥

भारतीय पंचाङ्ग को व्यवहार में लानेवाला प्रत्येक व्यक्ति बापूदेव के नाम से परिचित है। आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व विद्वानों की नगरी काशी से अनेक "वर्ष पंचाङ्ग" प्रकाशित होते थे, जिनमें परस्पर बडा भेद होता था और साधारण जनता तिथि आदि एवं ग्रहों की स्थिति के विषय में संशय-ग्रस्त रहा करती थी। अतः तत्कालीन काशीनरेश के आग्रह से श्रीबापूदेव जी ने सम्वत् १९३० में एक शुद्ध पंचांग बनाकर प्रस्तुत किया। यह पंचांग प्राच्य और पाश्चात्य गणित के आधार पर अत्यन्त शोध के साथ बनाया गया था। इसके बनाने में शास्त्रीजी ने "ब्रिटिश नाटिकल अलमेनेक" से बहुत सी बातें ग्रहण की थीं, जिसके कारण अनुदार दृष्टिकोण के कुछ धार्मिक जनों ने सार-असार का विचार किये बिना ही इसका बड़ा विरोध भी किया; किन्तु गणित का सर्वोपरि सत्य विजयी हुआ और दिनों-दिन इस पंचांग की माँग और प्रतिष्ठा बढ़ती ही गयी। अन्ततोगत्वा यही पंचांग जनता का प्रिय और प्रामाणिक पंचांग सिद्ध हुआ। तब से आज तक पण्डित समाज में इसकी पूर्ववत् प्रतिष्ठा बनी है। यद्यपि अब इसके निर्माणकर्त्ता शास्त्रीजी के वंशधर हैं तथापि इस पंचांग (पत्रा) की बिक्री शास्त्रीजी के नाम पर ही होती आ रही है। शास्त्रीजी भारतीय एवं विदेशी गणित के धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने गणित के अनेक ग्रंथों की रचना की और संस्कृत के ज्योतिष सम्बन्धी अनेक दुरूह ग्रंथों पर सरल व्याख्याएँ लिखकर उनके प्रचार और उद्धार का कार्य किया। उन्होंने कई विदेशी विद्वानों द्वारा निर्णीत सिद्धांतों का युक्ति-युक्त खण्डन कर उन्हें निःसार सिद्ध कर दिया था, जिससे उनकी धाक भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी अच्छी तरह जम गयी थी; फ़्रांस, जर्मनी

आदि देशों के विद्वान् शास्त्रीजी को पत्र लिखकर समय-समय पर अपनी शंकाओं का समाधान किया करते थे ।

एक वार एक अँग्रेज ज्योतिषी ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया था कि चन्द्रमा स्थिर है । शास्त्रीजी को जब यह वात विदित हुई तब उन्होंने उक्त लेख की उक्तियों का वड़ी उत्तमता के साथ खण्डन कर इस सिद्धांत की असारता घोषित की । इसी प्रकार मेजर ईल नामक एक विद्वान् ने १८७८ ई० में प्राचीन ताम्र पत्र पर उत्कीर्ण एक लेख के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि भारतीय ऐतिहासिक महायुद्ध 'महाभारत' का काल सन् ८८६ ई० है क्योंकि परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने इसी वर्ष की ३ अप्रैल को सूर्यग्रहण के अवसर पर विपुल पृथ्वीदान किया था । तत्कालीन विद्वत् समाज में मेजर ईल की इस घोषणा से वड़ी खलवली उत्पन्न हुई और लोग इस वात के लिए व्यग्र हो उठे कि किसी भारतीय विद्वान् के द्वारा इस अनर्गल सिद्धांत का खण्डन किया जाय । उस समय श्री बापूदेवजी ही ऐसे अकेले भारतीय विद्वान् थे जो गणित शास्त्र के अधिकारी निर्णायक माने जाते थे । उन्होंने अकाट्य तर्कों और उक्तियों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि उक्त तिथि को कोई पूर्ण ग्रास वाला सूर्यग्रहण हुआ ही नहीं था । अतः मेजर ईल की यह खोज भ्रांत और असंगत है । इस प्रकार शास्त्रीजी ने भारतीय गौरव को अपनी विद्वत्ता के वल पर उन्नत और प्रतिष्ठित कर जनता की सराहना प्राप्त की ।

चारों ओर से अँग्रेज जाति और अँग्रेजी भाषा की ही वढ़ती हुई प्रतिष्ठा के समय में भी संस्कृत भाषा और साहित्य का शिर ऊँचा करनेवाले इस भारतीय विद्वान् का जन्म महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश के अन्तर्गत 'कायगाँव कोटा" नामक ग्राम में हुआ था इनकी माता का नाम सत्यभामा और पिता का सीताराम था । अधिक वय व्यतीत हो जाने पर भी जब इनको सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ तब माता सत्यभामा ने भारतीय परम्परा के अनुरूप देवोपासना का निश्चय कर भगवान् नृसिंह की आराधना की, जिससे थोड़े ही दिनों के बाद दम्पति की अभिलाषा पूर्ण हुई और सन् १८२१ की पहली नवम्बर को बापूदेव ने जन्म लिया । भगवान्

नृसिंह की आराधना के फलस्वरूप इनका जन्म हुआ था अतः माता-पिता ने इनका नाम नृसिंह ही रक्खा, किन्तु इनकी प्रसिद्धि प्यार से पुकारे जानेवाले 'बापू' इस नाम से ही हुई। प्राचीन परिपाटी के अनुसार इनको बाल्यकाल में अष्टाध्यायी, अमरकोष, साधारण काव्य तथा ऋग्वेद आदि पढ़ाया गया किंतु इनकी विशेष रुचि गणित की ओर प्रतीत हुई और इन्होंने कान्यकुब्ज पंडित श्री ढुण्ढिराज जी से लीलावती और बीज-गणित का अध्ययन किया। अनन्तर संयोगवश इनकी भेंट तत्कालीन 'सिहोर राज्य' के 'पोलिटिकल एजेण्ट' श्री विलकिन्सन महोदय से हुई जिन्होंने बालक बापू की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उसे पण्डित सेवाराम के पास गणित के सिद्धांत-ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए भेजा और स्वयं भी रेखा-गणित आदि पढ़ाया। इस प्रकार भारतीय और विदेशी गणित का ज्ञान प्राप्त कर बापूदेवजी १९ वर्ष के अल्पवय में ही अपने ज्ञान और यश का प्रसार करने लगे।

संयोगवश सन् १८४१ में जब शास्त्री जी की अवस्था केवल २१ वर्ष की थी संस्कृत विद्या की शिक्षा के लिए सुविख्यात, काशी की राजकीय संस्कृत पाठशाला में—जो गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के नाम से अधिक विख्यात है, गणित-शास्त्र के अध्यापक की आवश्यकता हुई। जिसका पता पाकर विलकिन्स महोदय ने शास्त्री जी के नाम की संस्तुति की और इनकी नियुक्ति उस कालेज में हो गई। शास्त्री जी ने इस कालेज में अपने पद का कार्यभार १५ फरवरी सन् १८४२ को ग्रहण किया था। उस समय अध्ययन और अध्यापन के लिए गणित के ग्रंथों का अभाव-सा था। शास्त्री जी ने न केवल आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से पढ़ाना ही प्रारम्भ किया प्रत्युत ग्रंथ लिखने का भी कार्य प्रारम्भ कर दिया। मेधावती उनकी प्रज्ञा ने कुछ ही दिनों में अनेक ग्रंथ लिख डाले और इस प्रकार गणित पढ़ने और पढ़ाने का मार्ग उन्होंने प्रशस्त कर दिया। प्राच्य और पाश्चात्य पद्धति से पढ़ाने की अद्भुत क्षमता के कारण शास्त्री जी की ख्याति दिन-दिन चतुर्दिक् प्रसरित होने लगी और थोड़े ही दिनों में शास्त्री जी के पढ़ाये हुए सहस्रों विद्यार्थी भारत के विभिन्न नगरों और ग्रामों की पाठशालाओं में जाकर उनकी यशोराशि का विस्तार करने लगे।

इनके शिष्यों में महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सम्मान और उपाधि प्राप्ति

सन् १८६४ में लन्दन की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने तथा सन् १८६८ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने इनको अपना सदस्य निर्वाचित किया था। कलकत्ता और इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने भी इनको अपने-अपने विद्यालय का (फेलो) मित्र सदस्य बनाया था। सन् १८७६ में जब एडवर्ड सप्तम भारत आये थे तब उन्होंने बम्बई के गवर्नर के साथ शास्त्रीजी से बड़ी देर तक बातें की थीं। अनन्तर पहली जनवरी सन् १८७८ को दिल्ली दरबार के अवसर पर शास्त्रीजी को सी० आई० ई० की तत्कालीन सर्वसम्मानित उपाधि से विभूषित किया गया। पुनः १८८७ में जब महारानी विक्टोरिया के शासनकाल का ५० वर्ष पूरा होने का उत्सव मनाया गया तब शास्त्री जी को भी महामहोपाध्याय की पदवी प्रदान की गयी। इस प्रकार शास्त्री जी ने अपनी विद्या और व्यवहार-कुशलता से सभी सम्मानित उपाधियाँ प्राप्त कर सुर-भारती संस्कृत का मुख उज्ज्वल किया।

स्वभाव और धार्मिक आस्था

शास्त्रीजी का स्वभाव अत्यन्त सरल, उदार और कोमल था। उनकी बुद्धि प्रखर और चरित्र अत्यन्त निर्मल था। इसीलिए वह जो कुछ निर्णय करते थे बहुत सोच समझ कर और फिर उसका पालन करने के लिए वे भगवान् राम की तरह अटल बन जाते थे। उनमें दंभ और दर्प तो नाममात्र को नहीं था। उनका त्याग अपूर्व और महान् था। उनकी विद्वता पर मुग्ध होकर तत्कालीन काश्मीर नरेश ने इन्हें १०००) रुपये मासिक पर अपने यहाँ बुलाना चाहा जब कि काशी में उस समय इनको केवल २००) रुपये मासिक ही मिलता था। इसके उत्तर में शास्त्री जी ने यह लिख भेजा कि "जहाँ अन्य प्राचीन नृपति-गण काशीवास के लिए ब्राह्मणों और विद्वानों को सुविधा और सहायता प्रदान किया करते थे, वहीं आप मेरे लिए काशी परित्याग का प्रलोभन उपस्थित करते हैं"।

आज-कल के शिक्षितों को इस बात से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो केवल कुछ ही रुपयों की मासिक वृद्धि से वर्षों से सेवित संस्था को छोड़कर अन्यत्र जाने में लेशमात्र संकोच का अनुभव नहीं करते। अपने आचार-विचार में शास्त्रीजी अत्यन्त कट्टर थे। वे नित्य प्रातः ३ बजे ही उठकर गंगा स्नान करते और अपनी पूजा-आराधना में संलग्न हो जाते। धार्मिक आचार का परिपालन और अध्ययन तथा अध्यापन यही उनका एकमात्र व्यसन और व्यवसाय था। शास्त्रीजी न केवल गणित-शास्त्र में ही निष्णात थे अपितु काव्य साहित्य में भी उनकी अच्छी गति थी जो उनके ग्रंथों की संस्कृत लेखन शैली से स्पष्ट अवगत होती है। उन्होंने ४७ वर्ष तक सरकारी नौकरी के उपरांत सन् १८८९ में अवकाश ग्रहण किया। अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर कुछ ही दिनों बाद उनका शरीर रुग्ण रहने लगा और इस प्रकार प्रायः १४ मास तक बीमार रहने के उपरांत ७ जून १८९० को उनका पार्थिव शरीर पंचतत्त्व को प्राप्त हो गया। उनकी मृत्यु से भारत की जो क्षति हुई है, विशेषकर गणित विषय में, खेद है उसकी पूर्ति उस रूप में अब तक नहीं हो सकी।

८— पण्डित पञ्चानन तर्करत्न

सन् १८६५ से — १९४१ ई०

किसी भी देश, जाति अथवा राष्ट्र का साहित्य तब तक समृद्ध और सर्वाङ्गपूर्ण नहीं कहा जा सकता, जब तक उसमें अन्य भाषाओं के साहित्य का सुन्दर अनुवाद न सम्मिलित कर दिया जाय। आज बंगला साहित्य की संमुन्नत और सम्पन्न साहित्य में गणना की जाती है। उसकी इस समुन्नति और समृद्धि में जिन अनेक साहित्यकारों ने सहयोग दिया है, उनमें स्वर्गीय पण्डित पंचानन तर्करत्नजी का स्थान धार्मिक-साहित्य संवर्द्धन की दृष्टि से अत्यंत प्रमुख है। तर्करत्नजी ने धर्मसंहिताओं, पुराणों और उपपुराणों का बंगला में अनुवाद कर वंग भारती के चरणों में सुन्दर पुष्पहार के रूप में उन्हें समर्पित किया। उन्होंने भक्ति शास्त्र के प्रख्यात ग्रंथों श्रीमद्भागवत और अध्यात्म रामायण आदि का भी अनुवाद किया। इन धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त उनकी अहरहः संचारिणी लेखनी ने मालती माधव, दशकुमार चरित, रत्नावली आदि को भी अनूदित कर वंग साहित्य को भेंट किया। उनकी लेखनी में ओज और बल, साथ ही नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा का सुन्दर योग था, जिसके कारण उन्होंने संस्कृत भाषा में भी सुन्दर रचना की और न्यायशास्त्र में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर तर्करत्न की उपाधि प्राप्त की। संस्कृत की उनकी सुन्दर रचनाओं में प्राणदूत और 'इंद्रियानुशासन' नाम के दो खण्ड काव्य, सर्वमंगलोदय नामक श्लिष्ट और पार्थाश्वमेध नामक महाकाव्य आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार संस्कृत और बंगला दोनों ही भाषाओं के साहित्य को समलंकृत और समृद्ध करने के लिए तर्करत्नजी आजीवन कटिबद्ध रहे। दर्शनशास्त्र की ओर तर्करत्नजी की स्वाभाविक रुचि थी जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी और परिणाम स्वरूप उन्होंने भगवान् शंकराचार्य के कई एक भक्तिमूलक ग्रंथों को दो खण्डों में प्रकाशित किया और सांख्य दर्शन पर पूर्णिमा नाम की टीका, वैशेषिक दर्शन पर परिष्कार

टीका और अनुमान खण्ड पर अनुमिति विवृत्ति नामक टीका लिखकर इन क्लिष्ट ग्रन्थों के रहस्य को सर्वसाधारण के समझ सकने योग्य बनाया। शक्ति रूप ही परतत्त्व है, इसका प्रतिपादन उन्होंने जिस अपूर्व योग्यता के साथ किया है उसकी प्रशंसा समस्त पण्डित मण्डली करती है। उन्होंने अपनी बहुमूल्य संस्कृत रचनाओं द्वारा समय के प्रवाह से शिथिल होती जाती हुई संस्कृत ग्रंथ-रचना की धारा को लुप्त हो जाने से बचाया। इन अनुवादों, टीकाओं और अनेक मौलिक नाटक काव्यादि की रचना के साथ ही तर्करत्नजी ने बङ्गला पत्रों में समय-समय पर इतने अधिक लेख लिखे हैं कि यदि उनका संकलन किया जाय तो सुन्दर विचारों से परिपूर्ण एक अच्छा ग्रंथ तैयार हो सकता है।

तर्करत्नजी शास्त्र-चिंतन के साथ ही सामाजिक सुधार आदि के कार्यों में भी बहुत प्रेम रखते थे। हृदय से वे कट्टर और सनातनी हिन्दू थे। उनका पालन-पोषण जिस परम्परा के अनुकूल हुआ था उसकी उन पर अमिट छाप थी और इसीलिए वे पुरानी रूढ़ियों का परित्याग करने में सदा संकोची बने रहे; किंतु इसके साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे अपनी धुन और लगन के पक्के थे। उन्होंने शारदा ऐक्ट के प्रतिवाद में १६२६ में महामहोपाध्याय पदवी का भी त्याग कर दिया था जो उनकी विद्वत्ता के सम्मान में सरकार की ओर से उन्हें मिली थी। उनमें त्याग की मात्रा भी कम न थी। महामहोपाध्याय की पदवी मिलने पर उसे लेने के लिए न तो वे उसके निमित्त आयोजित दरबार में उपस्थित हुए और न उसके साथ मिलनेवाली १०० रु० की वार्षिक-वृत्ति ही स्वीकार की। मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश सम्बन्धी आन्दोलन का भी उन्होंने तीव्र विरोध किया था और इसके लिए एक प्रतिनिधि मण्डल बनाकर वे भारत सरकार के वैधानिक सदस्य श्री नृपेन्द्र सरकार से भी मिले थे। जिसके फल-स्वरूप श्रीसरकार ने भी उक्त बिल का विरोध किया। इन सब कट्टर वादिताओं के अनुरूप आप वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के संस्थापक और उसके दिल्ली अधिवेशन के सभापति भी बने थे। वर्णाश्रम स्वराज्य संघ सम्बन्धी उद्देश्यों को गांधीजी को समझाने के लिए आपने यरवदा जेल में उनसे भेंट की थी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय

महामहोपाध्याय प्रमथ नाथ तर्कभूषण, तर्करत्नजी की बाल्यावस्था के मित्र थे। आगे चलकर इस मित्रता ने साले बहनोई का रूप प्राप्त किया। तर्करत्नजी की छोटी बहिन का विवाह तर्कभूषण जी के साथ सम्पन्न हुआ। दोनों ही अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। अतः दोनों में बड़ा सौहार्द था किंतु सिद्धांतों की पवित्र वेदी पर इसका अन्त हो गया। बात यह थी कि तर्करत्न जी प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं से बुरी तरह चिपटे रहना चाहते थे। अपनी इस रूढ़िवादिता में वे समय और देशकाल को भी उसी के साथ चलाने के पक्षपाती थे किंतु इसके विपरीत तर्कभूषण महोदय प्राचीनता के पृष्ठ पोषक होते हुए भी उदार दृष्टिकोण के थे और समय की गति के अनुसार चलने में ही अपना और अपने देशवासियों का कल्याण मानते थे। सन् १६२८ के लगभग जब धर्मप्राण महामना मदनमोहन मालवीय ने अन्त्यजों और निम्न वर्ग के लोगों को मन्त्रोंपदेश करना चाहा तो तर्कभूषण जी ने शास्त्रों की अच्छी छानबीन करने के अनन्तर उनके अन्दर वर्तमान उदार और सरल मार्ग को खोज निकाला जिससे आत्म-तुष्टि के साथ उन्होंने हृदय से महामना के कार्यों का समर्थन किया। पंचाननजी को यह सह्य न हुआ और इस प्रकार दोनों में परस्पर उदासीनता बढ़ती ही चली गयी। इस औदासीन्य में मनोमालिन्य अंशमात्र को भी न था इसीलिए जीवन के अंतिम क्षण सन्निकट जान तर्करत्नजी ने अपने बहनोई को ज्येष्ठ पुत्र के द्वारा बुलवा भेजा और स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि तर्कभूषण तुम ऋषि और आदर्श ब्राह्मण हो। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं, तुमने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए नहीं किन्तु जन हित का ध्यान कर जो दृढ़ता और तत्परता प्रदर्शित की वह सचमुच प्रशंसनीय है। वर्षों की परस्पर अनदेखा-अनदेखी के बाद दो आदर्शवादी वृद्धों का यह करुणार्द्र मिलन बड़ा ही हृदयद्रावक था।

पंचाननजी आचार-विचार के पालन में बहुत ही कष्ट सहिष्णु थे। वे अपना भोजन स्वयं बनाते अथवा पत्नी के अभाव में पुत्रों द्वारा प्रस्तुत भोजन ही करते थे। अन्य किसी के हाथ का छुआ भोजन नहीं करते थे, रेलगाड़ी से यात्रा करते समय वे कई दिनों तक कुछ खाते-पीते न थे। सन् १६०७ में

वङ्ग-भङ्ग आन्दोलन के समय सरकार ने संदेह में उनको भी गिरफ्तार कर लिया और तीन दिन तक हवालात में रखा। पंचाननजी ने वहाँ रहते हुए एक बूंद जल तक नहीं ग्रहण किया। अनन्तर विरोधी प्रमाण न मिल सकने के कारण वे मुक्त कर दिये गये। पशुपतिनाथ का दर्शन करने के लिए जब वे नैपाल गये तो वहाँ की भयंकर शीत का ध्यान न कर वे खुले स्थान में स्नान कर नित्य कर्म करते थे। कुछ दिन तक उन्होंने अग्निहोत्र का भी व्रत लिया था।

ऐसे कर्मठ और आचारी विद्वान् तर्करत्नजी का जन्म कलकत्ते के समीप पण्डितों की प्रसिद्ध पुरी भाटपाड़ा में सन् १८६६ में हुआ था। इनके पिता श्रीनन्दलाल विद्यारत्न नामी विद्वान् और कवि थे। तर्करत्नजी ने भाटपाड़ा के प्रसिद्ध विद्वान् शिवराम सार्वभौम से न्याय शास्त्र, मीमांसा और काव्य आदि का अध्ययन किया किंतु इनकी प्रतिभा इतनी प्रखर और बुद्धि ऐसी कुशाग्र थी जिससे स्वयं ही अधिक मनन और चिन्तन कर इन्होंने प्रकृष्ट पाण्डित्य प्राप्त किया। २७ वर्ष की अवस्था में पत्नी का देहान्त हो जाने पर इन्होंने वैद्यनाथ धाम के ब्रह्मचारी बालानन्दजी से योग की शिक्षा ग्रहण की और यौगिक क्रियाओं की साधना मे लगे रहे। ५० वर्ष की अवस्था में यह काशीवास करने आये थे। यहाँ रहकर इन्होंने अनेक छात्रों को न्याय और वेदान्त पढ़ाया, जिससे इनकी बड़ी ख्याति हुई। इनकी असामान्य धर्मनिष्ठा और विलक्षण विद्वत्ता तथा आदर्श आचार परिपालन के कारण काशी का विद्वत्समाज इन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। इन्होंने काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में लगभग १० वर्ष तक अवैतनिक रूप से अध्यापन कार्य किया।

काशी में आप गङ्गा तटवर्त्ती चौसट्टी घाट पर रहा करते थे और यहीं ७५ वर्ष की अवस्था में लम्बी बीमारी के बाद इन्होंने गायत्री जप करते हुए शरीर परित्याग किया।

८- महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण

सन् १८६६ से १९४३ तक

वङ्ग देश का भट्टपल्ली नामक ग्राम श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित धर्माचार का पालन करनेवाले तथा संस्कृत विद्या के विभिन्न अंगों के विद्वानों की जन्म-भूमि के रूप में सदा से प्रख्यात रहा है। प्रमथनाथ का जन्म इसी ग्राम के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में ईसवी सन् १८६६ के जनवरी मास में हुआ था। इनके पूर्व-पुरुष प्रायः अपने जीवन के अन्तिम समय में प्रमथनाथ शङ्कर की नगरी काशीपुरी में आकर रहते थे। इसीलिए इनका नाम प्रमथनाथ रक्खा गया। इनके पिता श्रीताराचरण भट्टाचार्य तथा पितृव्य श्री राखालदास न्यायरत्न अपने समय के प्रख्यात और प्रकाण्ड विद्वान् थे। विशेषकर राखालदासजी तो न्यायशास्त्र के स्तम्भ ही माने जाते थे। इस प्रकार अपने घर में ही इनको विद्या पढ़ने का सुयोग मिला। पिता और पितृव्य ने जितनी ममता और अनुराग से इनको विद्या पढ़ाई उतने ही परिश्रम से बालक प्रमथनाथ ने भी उसको ग्रहण किया। इस प्रकार घर पर ही व्याकरण, साहित्य और समग्र न्यायशास्त्र में पारङ्गत होकर प्रमथनाथ काशी आये और वहाँ प्रातः स्मरणीय परिव्राजकाचार्य परमहंस स्वामी विशुद्धानन्दजी से पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का सम्यक् अध्ययन किया, जिसके फलस्वरूप थोड़ी ही अवस्था में प्रकर्ष पाण्डित्य की दृष्टि से इनकी ख्याति हो चली। इसी समय कलकत्ता के राजकीय महाविद्यालय में वेदान्त के अध्यापक की आवश्यकता हुई और वहाँ के अधिकारियों ने इनको वेदान्त के प्रधान अध्यापक पद पर नियुक्त कर विद्यालय का गौरव बढ़ाया। इस पद पर रहते हुए इन्होंने बड़ी योग्यता से कार्य किया और सहस्रों छात्रों को अपना श्रद्धालु शिष्य बनाया। इस प्रकार इनकी बढ़ती हुई ख्याति के कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इनको ससम्मान अपने यहाँ (लेक्चरर) उपदेशक के पद पर प्रतिष्ठित किया।

इस नवीन पद पर भी इन्होंने अद्भुत योग्यता से कार्य किया और सहस्रों स्नातकों को विद्या-दान देकर अपना यशः प्रसार किया। अनंतर काशी विश्वविद्यालय के गौरव संवर्धन की चिन्ता में सततमग्न गुणग्राही महामना मदनमोहन मालवीय ने वेदांत और न्याय में इनकी अद्भुत प्रशंसा सुनकर इनसे काशी आने की प्रार्थना की। उनके अनुनय और अनुरोध से तथा काशीपुरी वास की स्वेच्छा से प्रेरित होकर इन्होंने १६२३ में काशी आकर विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या-विभाग के प्रधान आचार्य का पद अलंकृत किया। वंश, विद्या और विनय से विभूषित प्रमथनाथ की प्रतिष्ठा यहाँ आने से और भी अधिक हो गयी। सारा विद्वत् समाज इनके प्रखर पाण्डित्य से प्रभावित हो उठा और छात्रगण इनके अध्यापन की प्रशंसा करने लगे।

इस समय भारतवर्ष में एक ओर जहाँ देश की स्वतन्त्रता का प्रवल आंदोलन चल रहा था, वहीं धार्मिक और सामाजिक सुधारों की भी चिन्ता लोगों को थी। पण्डित प्रमथनाथ उन संकीर्ण मनोवृत्ति के विद्वानों में से नहीं थे जो काल और परिस्थिति की बिलकुल ही चिन्ता न कर स्वच्छन्द रूप से शास्त्रों की सीमित व्याख्या से ही सन्तुष्ट रहते हैं और स्वयम् एवं समाज को भी प्रचलित रूढ़ि से तिलभर भी आगे वढ़ाना नहीं चाहते। ब्राह्मण मात्र में रोटी-बेटी का सम्बन्ध हो और अन्त्यजों को भी मन्त्रादि की दीक्षा दी जा सके इस प्रकार के विचार का प्रचार मालवीयजी महाराज करना चाहते थे; किन्तु इसके पूर्व कि वह अपने विचारों को कार्यान्वित होते देखें, वे पण्डित समाज का इस कार्य के लिए आशीर्वाद प्राप्त कर लेना चाहते थे। पण्डित प्रमथनाथ ने वड़े साहस के साथ इसमें अग्रणी का कार्य किया और शास्त्रों का आलोडन कर इस कार्य को शास्त्र सम्मत सिद्ध किया। प्रमथनाथ को इस प्रकार रूढ़ि पालन से पृथक् होते देख उनके साले पंचानन तर्करत्नजी को बड़ा बुरा लगा। यहाँ तक कि उन्होंने इनसे वोलना तक छोड़ दिया; किन्तु प्रमथनाथजी ने इसकी कुछ भी चिंता न की और अपने पक्ष पर दृढ़ रहे। उस समय इन्होंने काशी में तथा अन्य अनेक स्थानों में जा-जाकर अपने सारगर्भित व्याख्यानों द्वारा जनमत तैयार करना प्रारंभ किया और थोड़े ही दिनों में इस सम्बन्ध में लोकप्रियता प्राप्त कर ली।

इनका स्वभाव अत्यन्त सरल और उदार था। ७४-७५ वर्ष की वृद्ध अवस्था में भी इन्होंने दक्षिण प्रान्त के बालाजी तिरुपति नामक स्थान में जाकर अखिल भारतीय प्राच्यविद्या महासभा की अध्यक्षता की। इससे इनका अद्भुत उत्साह प्रकट होता है। वेदरूपी सुरतरु के सुपक्व-फल के समान भारतीय जनता को सुलभ श्रीमद्भागवत के आप बड़े सुन्दर व्याख्याता और कथावाचक थे। इस पवित्र ग्रन्थ पर आपकी अगाध श्रद्धा थी। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में विद्वन्मण्डली के मध्य विराजमान होकर महामना मालवीयजी इनकी सुललित कथा और व्याख्या बड़े प्रेम से सुना करते थे। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय से इनका सम्पर्क १९२२ से १९४३ तक रहा। इनकी असाधारण विद्वत्ता के सम्मान में सर्वपल्ली श्री राधाकृष्णन् के कुलपति काल में इनको डी० लिट् की पदवी प्रदान की गयी थी।

६— महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री

सन् १८५३ —से— नवम्बर १९३१

सस्य-श्यामला वङ्गभूमि का मुख उज्ज्वल करनेवाले महापुरुषों में स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज से ३०-४० वर्ष पूर्व, जबकि अँग्रेजों की प्रभुता में संस्कृति भाषा उपेक्षणीय होती जा रही थी, शास्त्रीजी ने अपनी प्रतिभा और पौरुष के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि संस्कृत भाषा सर्वथा समादरणीय है और उसके विद्वान् सुयोग पाकर सांसारिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

शास्त्रीजी का जन्म वङ्गाल के नैहाटी ग्राम में सन् १८५३ के सौर मास अग्रहायण की २२वीं तिथि मङ्गलवार को हुआ था। आपके पूर्वज अपने पांडित्य के लिए विख्यात थे। आपके पिता श्री रामकमल न्यायरत्नजी के संबंध में राजा राममोहन राय के सुपुत्र श्री रमाप्रसाद राय ने लिखा है कि वङ्गाल के समस्त संस्कृतज्ञ विद्वानों का प्रायः आधा भाग रामकमल न्यायरत्नजी का शिष्य है। इस कथन से इस बात का पता चलता है कि शास्त्रीजी के पिता अपने समय के प्रख्यात पंडित थे। ये अपने पिता के पाँचवें पुत्र थे। अँग्रेजी भाषा का प्रचार करने के निमित्त उस समय जो अंग्रेजी स्कूल खोले जा रहे थे उनमें से एक सन् १८५८ में नैहाटी ग्राम में भी खुला था। शास्त्रीजी ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा इसी विद्यालय में प्राप्त की। अनन्तर पिता की मृत्यु हो जाने के कारण शास्त्रीजी ने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दकुमार न्यायचक्षुजी के साथ जोकि उस समय मुर्शिदावाद जिले के कांदी नामक स्थान में वर्तमान स्कूल के प्रधान पंडित थे, कांदी चले आये। दुर्भाग्यवश ६-७ मास के अनन्तर इनके भाई की भी मृत्यु हो गयी और इन्हें विवश होकर अपने ग्राम के स्कूल में जाना पड़ा। पुनः कुछ दिनों तक भाटपाड़ा में अध्ययन कर शास्त्रीजी पढ़ने के लिए कलकत्ते चले आये। इस समय शास्त्रीजी का छात्र-जीवन आर्थिक

दृष्टि से अत्यन्त संकट के साथ व्यतीत हो रहा था, किंतु शास्त्रीजी हतोत्साह नहीं हुए और पूर्ण परिश्रम के साथ अध्ययन में रत रहे। इस प्रकार कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज से सन् १८७१ में इन्होंने इन्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की। सफल परीक्षार्थियों में इनका योग्यता क्रम ११वाँ था अतः इनको छात्रवृत्ति मिलने लगी जिससे एफ्० ए० परीक्षा तक इनका छात्रजीवन सुविधापूर्ण रहा। अनंतर बी० ए० परीक्षा में किसी वृत्ति के अभाव में इनकी दुःखमय अवस्था जानकर संस्कृत कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इनकी आर्थिक सहायता करते रहे। बी० ए० में संस्कृत में सर्वप्रथम आने के कारण आपको 'स्वर्ण पदक' प्राप्त हुआ। अनन्तर सन् १८७७ में एम्० ए० परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने के कारण आपको ससम्मान शास्त्री की उपाधि से विभूषित किया गया और साथ ही पुष्कल पुरस्कार भी मिला।

सन् १८७८ ई० में वर्द्धमान जिले के रायबहादुर श्रीकृष्णचंद्रजी चट्टोपाध्याय सबजज की सुकन्या हेमन्त कुमारी के साथ आपका विवाह हुआ। विवाह के प्रायः तीन वर्ष बाद आपकी माता का देहांत हो गया।

सन् १८७८ के फरवरी मास में शास्त्रीजी सरकारी हाई स्कूल के अनुवाद शिक्षक और हेड पण्डित नियुक्त हुए और आपको १००) मासिक मिलने लगा। किंतु इसी वर्ष लखनऊ केनिंग कॉलेज के संस्कृताध्यापक श्री राजकुमार सर्वाधिकारी की अस्वस्थता के कारण सितम्बर मास में शास्त्रीजी लखनऊ केनिंग कॉलेज के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इस पद पर अत्यन्त योग्यतापूर्वक कार्य करने के कारण विद्वत् समाज में आपकी ख्याति हुई और प्रायः एक वर्ष के अनन्तर ही आपको कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में संस्कृताध्यापक का पद प्राप्त हुआ और शास्त्रीजी लखनऊ छोड़कर कलकत्ता चले आये। शास्त्रीजी के शील-सौजन्य और पाण्डित्य के कारण सर्वत्र उनका समादर होने लगा और राजकीय शासक वर्ग में वे बंगाल के तत्कालीन प्रमुख विद्वान् माने जाने लगे। सन् १८८६ में वे बंगाल लाइब्रेरी के पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुए और ८ वर्ष तक इसी पद पर कार्य करते रहे। विद्याव्यसनी विद्वान् के लिए पुस्तकालयाध्यक्ष का पद ईश्वरीय वरदान समझना चाहिए। शास्त्रीजी ने इस सुयोग का लाभ उठाया और

अनवरत अध्ययन में लगे रहे जिसके फलस्वरूप आपकी विद्वत्ता का सुयश सौरभ सर्वत्र प्रसरित होने लगा और १८९४ की फरवरी में आप कलकत्ता प्रेसीडेंसी कॉलेज के सीनियर संस्कृत प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। अनन्तर दिसम्बर सन् १९०० में आपकी नियुक्ति संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के रूप में हुई और साथ ही आप बंगाल की संस्कृत परीक्षाओं के रजिष्ट्रार भी बनाये गये।

सन् १९०८ ई० में शास्त्रीजी की धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया। शान्त सुगृहिणी को खोकर शास्त्रीजी को मर्मान्तक पीड़ा हुई; किंतु विधि के विधान में मानव को सर्वथा असहाय समझकर उन्होंने इस दुःख को बड़े धैर्य के साथ सहन किया और अपना कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक बनाने के निमित्त तथा बंधन मुक्त होकर शान्ति लाभ करने के लिए उन्होंने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया, किन्तु अवकाश ग्रहण करते ही बंगाल सरकार ने उनको बंगाल देश के इतिहास, धर्म, लोक-प्रचलित रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार एवं आख्यानों का संग्रह करने का कार्यभार सौंपा, जिसे वे आजीवन करते रहे। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लेने पर भी सन् १९२१ में आपसे ढाका विश्वविद्यालय के संस्कृत और बँगला विभाग के प्रधान पद को ग्रहण करने का अनुरोध किया गया और आपने इस पद पर जून १९२४ तक कार्य किया। इन वेतन भोगी कार्यों के साथ उसका भी वर्णन करना आवश्यक है जो शास्त्रीजी के जीवन का महान् कार्य कहा जाता है। शास्त्रीजी ने १९१२ में सर जान मार्शल की प्रार्थना से पुरातत्त्व विभाग के लिए बारह हजार हस्तलिखित पुस्तकें खरीदी थीं। इनकी सूची बनाने के निमित्त बँगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से आपको २००) रुपये प्रति मास मिलते थे।

इन वैतनिक कार्यों के साथ ही आपको अनेक अवैतनिक कार्य भी मित्रों के अनुरोध से करने पड़ते थे। इनके अन्यतम मित्र राजा राजेंद्रलाल मित्र ने इनसे गोपालतापनी उपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद करवाया था और 'नेपाली बौद्ध साहित्य' नामक पुस्तक की रचना में सहायता ली थी। इनके अतिरिक्त ये समय-समय पर अन्य अनेक कार्य एशियाटिक सोसाइटी की ओर से करते

रहते थे। राजा राजेन्द्रलाल मित्र की मृत्यु हो जाने पर आपको एशियाटिक सोसाइटी की संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकों का कार्य-भार सरकार के अनुरोध पर स्वीकार करना पड़ा।

संस्कृत वाङ्मय के काव्य, व्याकरण, दर्शनादि विभिन्न विषयों के ग्रंथों में इतनी गंभीर और गुरुतर ज्ञानराशि वर्त्तमान है कि उसका आस्वाद पाकर सहृदय मानव संसार के समस्त विषयों से पराङ्मुख होकर उन्हीं में रम जाता है। इनमें त्याग और निःस्पृहता तथा संसार की असारता का पदे-पदे इतना अधिक प्रसंग है तथा सदाचार और स्वार्थ को परार्थ में खो देने को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है कि आधुनिक भौतिक युग की बातों से उनका मेल ही नही मिलता और इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय के व्यसनी विद्वानों में दो सर्वमान्य दोष दिखाये जाते हैं। प्रथम अलौकिकता अथवा कूपमंडूकता और दूसरा (Inferiority Complex) अर्थात् लघुता की भावना। यद्यपि यह सत्य है कि विना इन दोनों को अपनाये मनुष्य किसी एक विषय का पारदर्शी विद्वान् नहीं बन सकता; क्योंकि किसी एक ध्येय की पूर्ति के लिए गुरुतर और क्लिष्टतर साधना की आवश्यकता होती है। पूर्वीय क्षितिज पर पहुँचने को लक्ष्य मानकर पथ पर अग्रसर होनेवाला पथिक अवश्य ही शेष तीन दिशाओं के क्षितिज पर नहीं पहुँचेगा; किन्तु संसार में रहने के लिए यह भी नितांत आवश्यक है कि हम इस बात का ज्ञान रक्खें कि हमारे पीठ की ओर पश्चिम, बाईं ओर उत्तर और दाहिनी ओर दक्षिण है। साथ ही अपनी लक्ष्य सीमा पर पहुँचकर क्रांति के अभिशाप से बचने के लिए क्या यह आवश्यक न होगा कि हम बीच-बीच में रुककर अन्य दिशाओं और क्षेत्रों के मनोरम दृश्य को देख लिया करें। संस्कृत के अधिकांश विद्वान् यही नहीं कर पाते। शास्त्रीजी ने संभवतः अपने शैशवकाल से ही इस मार्मिक तथ्य को समझ लिया था। इसी से उन्होंने संस्कृत के अध्ययन को चरम लक्ष्य मानकर भी अन्य विषयों का अध्ययन और मनन किया। वे जितनी रोचकता और प्रौढ़ता से परिपूर्ण तथा प्रवाहमय अपनी मातृ-भाषा बंगला लिख सकते थे उतनी ही सरस, सुमधुर और प्रौढ़ संस्कृत भी लिखते थे। उनका अंग्रेजी भाषा का लेखन और

भाषण भी अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण होता था। उनके सार्वजनिक कार्यों की ओर दृष्टिपात कर संस्कृत के आधुनिक विद्वानों को उन्हें इस सम्बन्ध में अपना आदर्श बनाना चाहिए।

शास्त्रीजी के सार्वजनिक कार्य

सन् १८८० में शास्त्रीजी नैहाटी की नगरपालिका के सदस्य नियुक्त हुए थे और इसमें भी इन्होंने ऐसी तत्परता और चतुरता से कार्य किया कि तत्कालीन अधिकारी वर्ग आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। परिणामतः आप शीघ्र ही उसके वाइस चेयरमैन, उपसभापति और सभापति नियुक्त हुए। १८८४ में आप नैहाटी बेंच के आनरेरी मजिस्ट्रेट (अवैतनिक न्यायाधिकारी) भी नियुक्त हुए थे और अपनी योग्यता के बल पर उसका अध्यक्ष पद भी प्राप्त किया। १८८८ में आप टेक्स्टबुक कमिटी के सदस्य बने और बारह वर्ष तक बड़ी योग्यता से इस काम को किया। इसी वर्ष आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'फेलो" मित्र सदस्य बनाये गये। १९०४ में आप ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के शत-सांवत्सरिक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रतिनिधि के रूप में भेजे गये थे। १९०८ में आपसे सरकार ने प्रार्थना की थी कि आप आक्सफोर्ड के प्रोफेसर मैकडानल के साथ उत्तर भारत की यात्रा कर पुरातत्त्व संग्रहालय, मन्दिर एवं हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह आदि का निरीक्षण करें। इस अवसर पर आपने जर्मन विद्वान् मैक्समूलर-स्मारक के लिए ऐसी बहुसंख्यक वैदिक पुस्तकों का संग्रह किया था जो अलभ्य थीं। आपने ही उन सात हजार हस्तलिखित पुस्तकों का भी संग्रह किया था जो नेपाल के महाराज ने आक्सफोर्ड की बोधियन लायब्रेरी के लिए दी थीं। सन् १९१२ में राजकीय पुरातत्त्व विभाग के अधिष्ठाता सर जान मार्शल के अनुरोध को स्वीकार कर आपने पुरातत्त्व विभाग के लिए १२ हजार हस्तलिखित पुस्तकें खरीदी थीं। ये पुस्तकें कलकत्ता के "भारतीय संग्रहालय", में सुरक्षित हैं। इनमें वैदिक पुस्तकें तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। एशियाटिक सोसाइटी में शास्त्रीजी ने अमूल्य

कार्य किया है। ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने अपने अत्यन्त परिमित सम्मानित सदस्यों की सूची में आपका नाम सम्मिलित कर आपको सम्मानित किया था। यह सम्मानित पद तब तक तीन ही बँगाली विद्वानों को—पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सर यदुनाथ सरकार तथा हरप्रसाद शास्त्री को प्राप्त हुआ था। संस्कृत और वैदिक तथा बौद्ध साहित्य सम्बन्धी हस्तलिखित पुस्तकों का अनुसन्धान करने के लिए शास्त्रीजी चार बार नेपाल गये थे और इसी कार्य के निमित्त राजपूताना, मालवा, उड़ीसा, काशी, बिहार तथा भारत के अन्य अनेक प्रमुख स्थानों की भी यात्रा की थी। १६२० में आप कमला बुकडिपो लिमिटेड में सम्मिलित हुए थे और मृत्यु पर्यन्त इसके बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के अध्यक्ष रहे।

इन अनेक स्थायी और अस्थायी कार्यभार का निर्वाह करते हुए शास्त्रीजी ने कई-कई बार वंगीय साहित्य सम्मेलन में तथा अखिल भारतीय हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन एवं १६१६ के निखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन के मथुरा अधिवेशन में सभापति का पद ग्रहण किया था।

इस प्रकार शास्त्रीजी की शास्त्रीय सेवाओं और सार्वजनिक सेवाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत रहा।

परीक्षकता

उस समय होनेवाली परीक्षाओं, विशेषकर विश्वविद्यालय की परीक्षाओं का परीक्षक होना अत्यन्त योग्यता और सम्मान का सूचक था। शास्त्रीजी इनमें भी अग्रणी ही रहे। आप दो वर्ष मद्रास विश्वविद्यालय, ४ वर्ष प्रयाग विश्वविद्यालय और कई वर्ष तक कलकत्ता विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के परीक्षक रहे। इसके अतिरिक्त आप पी० एच० डी० आदि परीक्षाओं के भी परीक्षक रहते थे।

रचनाएँ

शास्त्रीजी ने बँगला और संस्कृत दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं। शास्त्रीजी की बँगला रचना 'वाल्मीकीर जय' जब बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित

'वङ्गदर्शन' के सप्तम वर्ष के अंक में प्रकाशित हुई तब लोगों ने उसका अच्छा स्वागत किया। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि इसका अनेक यूरपीय तथा भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। वङ्गदर्शन के नवमवर्ष में आपका ऐतिहासिक उपन्यास 'कंचनमाला' प्रकाशित हुआ था। भारतवर्षेर इतिहास, कालिदास व्याख्या, मेघदूत, १९वीं शताब्दी का बँगला साहित्य, अँग्रेजी शिक्षा से पूर्व बँगाल का साहित्य, प्राचीन बंगला बौद्ध गीत आदि अनेक बंगला रचनाओं के अतिरिक्त आपकी स्वयम्भू पुराण आदि संस्कृत रचनाएँ भी उच्च-कोटि की हैं। कहा जाता है कि उन्होंने बंगला भाषा में जो भारतवर्ष का इतिहास लिखा था वह स्कूलों में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत हुआ था और उससे उनको ५० हजार रुपये मिले थे।

शास्त्रीजी को बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का अत्यन्त गम्भीर ज्ञान था, बड़ौदा संस्कृत पाठशाला से प्रकाशित अद्वयवज्रसंग्रह नामक बौद्ध ग्रन्थ का संपादन शास्त्रीजी ने किया था। भारतीय तंत्रशास्त्र के भी वे प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे। उन्होंने हिंदू और बौद्धतंत्र का तात्त्विक विश्लेषण बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

अभिभाषण

शास्त्रीजी को अपने जीवनकाल में अनेक सभाओं और समितियों के वार्षिक अधिवेशनों पर अध्यक्ष पद से भाषण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ये अभिभाषण भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनमें इतिहास, काव्य और अनुसंधान की गयी तथा अनुसंधान कर सकने योग्य बातों का रोचक भंडार है। बंगाल साहित्य परिषद् के सभापति पद से आपने १२ से भी अधिक अभिभाषण दिये थे, जिनमें से प्रथम और द्वितीय अभिभाषण में आपने प्राचीन बंगला बौद्ध साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला था। तृतीय भाषण में अपने द्वितीय शताब्दी के नागार्जुन से लेकर ११वीं और १२वीं शताब्दी के अभयंकर गुप्त के समय तक के उत्तर भारतीय बौद्ध संस्कृत साहित्य का इतिहास दिया था। बंगीय साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष-पद से आपने जो भाषण पढ़ा था उसमें समस्त बंगाल

के साहित्य की आलोचना थी। संस्कृत का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी विवेचना आपने अपने हिन्दू विश्वविद्यालयीय भाषण में बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से की थी। इस प्रकार इनके छोटे-बड़े सभी अभिभाषण इनकी विद्वत्ता के निदर्शन हैं।

सन् १६२८ में लाहौर के इण्डियन ओरिएन्टल कान्फ्रेंस (भारतीय प्राच्य-विद्या सम्मेलन) में सभापति के पद से आपने जो वक्तव्य पढ़ा था वह इनके सभी अभिभाषणों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भाषण अँग्रेजी में दिया गया था, जिससे शास्त्रीजी की प्रौढ़ अँग्रेजी लेखन शक्ति का पता लगता है। यह भाषण शास्त्रीजी ने अपने जीवन के अन्तिम प्रहरों में लिखा था। अतः इसमें इनका जीवन-व्यापी अनुभव संक्षिप्त रूप से आ गया है। अपने जीवन के कार्य-कलापों का इसमें इन्होंने अच्छा दिग्दर्शन कराया है। इसे पढ़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शास्त्रीजी ने अपने जीवन में प्रमुख रूप से जो कार्य किया वह है हस्तलिखित पुस्तकों का अन्वेषण। इसमें कोई संशय नहीं कि इस कार्य में जो इनको अभूतपूर्व सफलता मिली, उसका बहुत कुछ श्रेय तत्कालीन अँग्रेज अधिकारियों को भी है; क्योंकि उन्होंने इस कार्य के लिए अपेक्षित प्रचुर धनराशि के अनुदान स्वीकृत किये तथा नरेशों और सामन्तों को पत्र लिखे, जिससे शास्त्रीजी सुविधापूर्वक इस कार्य को कर सके।

हस्तलिखित ग्रंथों को खोजकर उनकी सूची प्रस्तुत कराना और उनमें से प्रमुख पुस्तकों का प्रकाशन कराने के कार्य में भारत की कुछ रियासतों ने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया, जिनमें मैसूर, त्रावनकोर, त्रिवेंद्रम, कश्मीर, नैपाल और वड़ौदा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन रियासतों ने प्राप्य हस्त-लिखित पुस्तकों की सूची बनवाने के साथ ही राज्य के नाम से संस्कृत ग्रंथमाला के अन्तर्गत अनेक अलभ्य पुस्तकें प्रकाशित करायीं। इस सम्बन्ध में त्रिवेंद्रम के महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। अँग्रेजी के ज्ञान से सर्वथाशून्य होकर भी इन्होंने अँग्रेजी प्रभुता सम्पन्न समय में भास के तेरह नाटकों का त्रिवेंद्रम संस्कृत ग्रंथमाला में प्रकाशन कराया जो तब तक संस्कृत-समाज में अज्ञात थे। भास-नाटक-चक्र के प्रकाशन से शास्त्रीजी

का वड़ा नाम हुआ । सरकार ने उनको महामहोपाध्याय की पदवी से विभूपित किया और ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने उन्हें अपना निःशुल्क सदस्य घोषित किया ।

शास्त्रीजी ने लिखा है कि वीकानेर के दुर्ग में सुरक्षित ७,००० हस्तलिखित पुस्तकें हैं । जोधपुर और वूंदी प्रत्येक में दो-दो हजार संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें वन्द पड़ी हैं । न तो इनकी समुचित सूची बन सकी, न इनके प्रकाशन की ओर राज्य का ध्यान ही गया है । अलवर दरवार ने मिस्टर पीटर्सन नामक अँग्रेज संस्कृतज्ञ विद्वान् से अपने यहाँ की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची वनवा ली है जो वहुत ही उपादेय है । इस भंडार की पुस्तकों में अनेक ऐसी अलभ्य और दुष्प्राप्य हैं; जिनका प्रकाशन होने से संस्कृत के विद्वानों को वड़ा संतोप और साथ ही संस्कृत का ज्ञान-क्षेत्र वहुत विस्तीर्ण हो जायगा । शास्त्रीजी को इस वात का खेद रहा कि जयपुर और रीवाँ राज्य में हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में जो ज्ञान निधि छिपी पड़ी है उसे लोगों को दिखाया भी नहीं जाता । राजपूताने में न केवल राज्य के दुर्ग में ही प्रत्युत प्रत्येक शिक्षित ब्राह्मण के पास कोई न कोई लिखित पुस्तक आवश्यक है । जैन उपाश्रयों में अनेक जैन ग्रंथ हस्तलिखित वर्तमान हैं और वहाँ के चारणों के पास भी हस्तलिखित पुस्तकों का अच्छा भण्डार है जिसकी खोज की जानी चाहिए ।

इन हस्तलिखित पुस्तकों में कैसी-कैसी अलभ्य पुस्तकें मिल सकती हैं । इस सम्वन्ध में शास्त्रीजी ने उदयपुर की एक रोचक घटना लिखी है जो इस प्रकार है :—

एक वृद्धा स्त्री अपने निकट के वनिये के पास हस्तलिखित पुस्तकें रद्दी के रूप में लाया करती थी, वह जो कुछ भी दे देता था वह उसे लेकर चली जाती थी; किन्तु एक दिन वह वड़ा सुन्दर एक हस्तलिखित ग्रंथ ले आयी और वनिये से चार आना माँगा; क्योंकि उसे इतने पैसों की अत्यन्त आवश्यकता थी । वनिया दो आने से अधिक नहीं दे रहा था और इसी पर वृद्धा और वनिया में वातचीत हो रही थी । इतने में एक चारण अथवा राजपूत आया और उसने वृद्धा से झक-झक का कारण पूछा । कारण ज्ञात होने पर उसने

उस हस्तलिखित को बनिये से लेकर देखा और उसका सुन्दर लेख तथा रूप देखकर उसने अनुमान किया कि अवश्य ही वह कोई उत्तम ग्रंथ होगा। उसने वृद्धा से अपने साथ चलने को कहा और यह बतलाया कि वह उसे इसका अच्छा मूल्य दिलायेगा। इस प्रकार वह वृद्धा को महाराज कुमार के पास ले गया। महाराज कुमार ने तत्काल ही अपने सभापण्डितों द्वारा उस हस्तलिखित पुस्तक की जाँच करायी। परिणामतः पण्डितों ने बतलाया कि वह पुस्तक 'शालिहोत्र' है जिसमें अश्वभेद आदि तथा उनकी चिकित्साएँ लिखी हैं। शालिहोत्र ग्रंथ का अब तक संस्कृत में पता न था। एक फारसी अनुवाद के द्वारा ही उसका लोगों को ज्ञान था। कुछ लोगों ने इस फारसी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर कर लिया था। महाराजकुमार इस अलभ्यलाभ से बहुत संतुष्ट हुए और उस वृद्धा को ५० रुपये दिये। महामहोपाध्याय मुरारदान पण्डित जब उदयपुर में थे तब उन्होंने इसकी एक प्रतिलिपि अपने लिए तैयार कर ली थी। शास्त्रीजी ने मुरारदान जी के सुपुत्र से इसकी एक प्रतिलिपि प्राप्त की जो एशियाटिक सोसाइटी के कक्ष में सुरक्षित है।

जब प्रेस न थे, पर्याप्त कागजादि साधन न थे तब कितने कठिन परिश्रम के साथ निःशुल्क और अनवरत ज्ञान-दान में लगे हुए निष्ठावान् और निष्णात विद्वानों ने इन ग्रंथों को लिखकर भारत की भावी संतान के लिए बाहरी आक्रमणकारियों के उपद्रव से बचाकर इन्हें सुरक्षित रक्खा। इसे ध्यानकर तथा इन्हें अब इसी प्रकार पड़ा-पड़ा सड़ा देखते हुए किस विद्या व्यसनी को खेद न होगा। इन अलभ्य हस्तलिखित पुस्तकों का ह्रास किस प्रकार हुआ इस संबंध में भी शास्त्रीजी ने जो कुछ लिखा है वह अवधेय है—

"उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पण्डित लोग इन हस्तलिखितों को ही अपनी अमूल्य सम्पत्ति मानते थे और इन्हें अपने आवास के सबसे सुरक्षित स्थान में रखते थे। प्रत्येक वर्षा ऋतु के अनन्तर वे इन्हें धूप में रखते थे और अच्छे से अच्छे कपड़ों के वेष्ठन से उन्हें पुनः बाँधकर रख देते थे। उनके पुत्रों ने जब मैकाले महोदय की नीति के प्रवाह में पड़कर थोड़ा-बहुत ही अँग्रेजी का ज्ञान प्राप्तकर सरकारी कचहरी में नौकरी प्राप्त कर ली तथा उचित और

अनुचित रूप से भी अपने पिता की आय से कई गुना अधिक आय करने लगे तो इन्होंने उन हस्तलिखितों को आवास के सर्वश्रेष्ठ स्थान से हटाकर प्रथमतः भण्डार गृह में रखा, अनन्तर पाकशाला के एक कोने में जहाँ उन पर राख और धुएँ की कालिमा का स्तर चढ़ता रहा। एक गृह विशेष का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि इस प्रकार पाकागार में पहुँची हुई पुस्तक राशि पर गृहस्वामिनी ने जब ध्यान दिया तो उसे मालूम हुआ कि प्रायः प्रत्येक पुस्तक के साथ ऊपर और नीचे काठ की तख्तियाँ लगी हैं। वधू को सूखे ईंधन की आवश्यकता थी, उसने पुस्तकों के ऊपर-नीचे सुरक्षार्थ आवेष्ठित उन काष्ठ पटलों को एक-एक कर निकाल के जलाना प्रारंभ किया, अनन्तर कुछ दिनों में डोर और ऊपर तथा नीचे के आवरणों के अभाव में पुस्तकों के पृष्ठ एक दूसरे से मिश्रित होकर ढेर के रूप में परिणत हो गये। लिखित प्रत्येक पृष्ठ साक्षात् सरस्वती का रूप है इस धर्मभावना के कारण वे पृष्ठ आग में तो नहीं जलाये गये किंतु उन्हें व्यर्थ में स्थान घेरे हुए देखकर पाकशाला के सम्बद्ध उद्यान में डाल दिया गया और वे वहीं खाद के रूप से नष्ट हो गये। कुछ विद्वानों ने अपनी अमूल्य निधि उन हस्तलिखितों को अपने असंस्कृतज्ञ पुत्रों के हाथ पड़कर विनष्ट होते जान उन्हें भगवती भागीरथी को भेंट के रूप में अर्पित कर दिया। "शास्त्रीजी का कहना है कि नैयायिक विद्वानों के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र स्थान नवद्वीप में उन्होंने सड़कों के किनारे ढेर के ढेर पड़े हुए हस्तलिखितों को देखा। वे मनों के भाव रद्दी कागज के रूप में बिके और उनसे झोपड़ियों के झरोखे मूँदे गये।

भारतीय अलभ्य ग्रंथरत्नों की इस प्रकार दुर्दशा देखकर वे वर्षों भारत के अनेक भूभागों में इन हस्तलिखित ग्रंथों की प्राप्ति के लिए घूमे और बहुत बड़ा संग्रह करने में सफल हुए। इन ग्रंथरत्नों के प्रकाशन के लिए देशी राज्यों के नरेशों से प्रार्थना करते हुए शास्त्रीजी ने कहा था कि राज्यों को इससे किसी प्रकार आर्थिक हानि न होगी। उदाहरण स्वरूप उन्होंने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस सोसाइटी ने सन् १८४६ में बिबलियाथिका इण्डिया पुस्तकालय का प्रकाशन प्रारम्भ किया और ८० वर्ष

के भीतर छोटे-बड़े कुल २०१८ दुर्लभ ग्रंथ प्रकाशित कर चार लाख रुपयों की पुस्तकें बेंची और प्राय: इसके द्विगुणित मूल्य की पुस्तकें उसके पास हैं। यदि लाभ-हानि की चर्चा छोड़ दी जाय तो यही क्या कम है कि इससे संस्कृत वाङ्मय के अज्ञात और अलभ्य ग्रंथरत्न प्रकाश में आ जायेंगे और इस प्रकार संस्कृत साहित्योद्यान समृद्ध हो उठेगा।

शास्त्रीजी का यह अभिभाषण कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें संस्कृत साहित्य का इतिहास और पुरातत्त्व संबंधी अनेक तथ्य प्रकाश में लाये गये हैं। संस्कृत साहित्य के प्रेमियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

शास्त्रीजी संस्कृत भाषा एवं तत्संबंधी विचार-विनिमय के कितने प्रगाढ़ प्रेमी थे, इस बात का पता इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि लाहौर के प्राच्यविद्या सम्मेलन में सभापतित्व स्वीकार करने के लिए आमन्त्रण मिल जाने पर वे अकस्मात् कहीं से गिर पड़े और उनकी एक हड्डी टूट गयी जिससे वे ३ मास तक शय्या-सेवन करते रहे। अनन्तर दुर्बलावस्था में ही वे ४६ पृष्ठ का अपना भाषण तैयार कर वहाँ गये।

शास्त्रीजी लक्ष्मी और सरस्वती के समान रूप से कृपापात्र थे! ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति कम हुआ करते हैं, किंतु उनको इस बात का किंचिन्मात्र गर्व न था। वे गुणों और गुणियों के सच्चे पारखी थे। उनके सरल स्वभाव तथा छोटे-बड़े सबसे समान भाव से मिलने के कारण लोग उनका बड़ा आदर करते थे। उन्होंने जिस प्रकार द्रव्योपार्जन किया, उसी प्रकार वे उदारतापूर्वक उसका सत्कार्य के लिए उपयोग भी करने के लिए तत्पर रहे। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को उन्होंने १८०००रुपया हस्तलिखित पुस्तकों की सूची प्रकाशित करने के लिए दान स्वरूप दिया था। इसी प्रकार अपने जन्मस्थान नैहाटी में खोले गये स्कूल की सहायता के लिए भी उन्होंने २०००० रुपयों का दान दिया था।

इस प्रकार सरल स्वभाव, सर्वतोमुखी प्रतिभा और सर्वमान्य विद्वत्ता के कारण शास्त्रीजी ने संसार में सुयश प्राप्त किया और अन्त में १७ नवम्बर सन् १९३१ में अपना नश्वर देह परित्याग कर वे परलोक सिधारे। किंतु पुरातत्त्व-वेत्ता इतिहासज्ञ और लेखक के रूप में शास्त्रीजी का नाम सर्वदा अमर रहेगा।

१० — साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास

सन् १८५८ — से — नवम्बर १९०० तक

संस्कृत साहित्य में पद्य की प्रधानता रही। ज्योतिष, वैद्यक, तन्त्र-मन्त्र सब कुछ पद्य में। इसके स्वर्णयुग में भी गद्य की रचना नहीं के तुल्य हुई। संस्कृत गद्य की चर्चा चलने पर इने-गिने तीन नाम सुबन्धु, दण्डी और बाण-भट्ट सर्वत्र दुहराये जाते हैं। इनमें भी प्रतिनिधित्व करते हैं केवल बाण। किसी मुँहफट ने स्पष्ट कहा भी है "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्" ऐसी दशा में संस्कृत साहित्य के उपेक्षाकाल में गद्य रचना की ओर ध्यान देना और पूर्ण सफलता के साथ उपन्यास लिखना विलक्षण प्रतिभा का ही कार्य है। पण्डित अम्बिकादत्त जी व्यास ऐसे ही विलक्षण मेधावी थे। वे शतावधान थे। एक साथ अनेक की बात सुनकर सद्यः उसका समाधान कर देते थे। वे वाद और व्याख्यान में निपुण थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने शिवाजी महाराज

के उदात्त चरित्र का वर्णन करने के लिए "शिवराजविजय" नामक वीर रस प्रधान गद्य-काव्य लिखा है। बारह निःश्वासों में लिखा हुआ यह उपन्यास बड़ा ही रोचक और साथ ही ज्ञानवर्धक भी है। इसके पढ़ने से व्याकरण और कोष सम्मत सहस्र-सहस्र शब्द पढ़े हुओं को पुनरावृत्त हो उठते हैं और नवीनों के शब्द भण्डार में अनायास आ मिलते हैं। अभिनव हिन्दी उपन्यासों की शैली में लिखा गया यह उपन्यास ही व्यासजी की कीर्त्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है; किन्तु इसके अतिरिक्त भी व्यासजी ने ५० से अधिक छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं जो कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं। व्यासजी भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समकालीन विद्वान् थे। वह हिन्दी का प्रस्फुरण काल था और भारतेन्दु थे उस समय के सर्वमान्य सुकवि और साहित्यिक। उनके असामान्य व्यक्तित्व के प्रभाव से उस समय के गिने-चुने विद्वानों ने हिन्दी में बहुत कुछ लिखा। व्यासजी ने भी हिन्दी में कई पुस्तकों के पृष्ठ रंगे हैं जिनमें बिहारी बिहार, गद्य-काव्य मीमांसा तथा अवतार मीमांसा आदि उल्लेखनीय हैं। वे बँगला, गुजराती, मराठी आदि कई प्रादेशिक भाषाओं के साथ कुछ अँग्रेजी का भी ज्ञान रखते थे। कई सभाओं में शास्त्रार्थ कर उन्होंने विजय प्राप्त की थी। अतः उस समय की परम्परा के अनुसार उनको राज-सम्मान भी प्राप्त था। अनेक राजे-महाराजे उनका सम्मान करते थे। वे सुधारवादी थे। बिहार में "संस्कृत संजीवनी समाज" की स्थापना कर उन्होंने संस्कृत शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी सुधार किया जिससे संस्कृत-शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ। साहित्यिक का सहज अभिशाप उन्हें भी प्राप्त था। वे आजन्म आर्थिक कष्ट में रहे। जीवन के अन्तिम भाग में गवर्नमेंट कालेज पटना में उन्हें प्रोफेसर का पद प्राप्त हुआ और अभिशाप मुक्ति की आशा हुई; किन्तु विधाता को यह सह्य न हुआ और वे शीघ्र ही १६ नवम्बर सन् १६०० को रुग्णतावश काशी वास करते हुए स्वर्ग सिधारे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल आत्मचरित लिखा है जो 'बिहारी बिहार' की भूमिका में वर्तमान है। जीवन-वृत्त के साथ उनकी हिंदी गद्य शैली का भी परिचय प्राप्त हो, इसी दृष्टि से उसे ही यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"राजपूताने में जयपुर के समीप भानपुर (मानपुर ?) नामक ग्राम चिर-काल से प्रसिद्ध विद्वत्स्थान है। वहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् पंडित ईश्वररामजी गौड़ हैं। इनके प्रपौत्र पंडित हरिजी रामजी राजाश्रय के कारण रावतजी के धूला नामक ग्राम में रह गये। परंतु उनके पुत्र पण्डित राजाराम धूला से सम्बन्ध छोड़ सकुटुम्ब काशी में आ वसे और अपने गुण-गौरव से काशी के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी कहाये। इनके अनेक संतानों में चिरंजीवी दो ही पुत्र हुए-- ज्येष्ठ पुत्र दुर्गादत्तजी और कनिष्ठ पंडित देवीदत्तजी। ये कभी जयपुर में भी जाकर कुछ दिन रह जाते थे और कभी काशी में भी रह जाते थे। इनके द्वितीय पुत्र का जन्म जयपुर में ही सिलावटों के महल्ले में सं० १९१५, चैत्र शुक्ल ८ को हुआ। वही मैं हूँ। सं० १९१९ में मेरे पूज्य पिता पण्डित दुर्गादत्तजी जयपुर से काशी आये।

शास्त्रानुसार पंचम वर्ष से मेरी शिक्षा का आरंभ किया गया। मेरी माता, बड़ी वहनें और दादी तथा चाची भी पढ़ी थीं। मेरी शिक्षा चतुरस्र होने लगी। दस वर्ष के वय में मैं हिंदी-भाषा में कुछ-कुछ कविता करने लग गया था। परंतु मेरी कविता जो सुनता था वह कहता था कि इनकी वनाई कविता नहीं है, पिताजी से वनवायी है। सं० १९२६ में जोधपुर के राजगुरु ओझा तुलसीदत्त जी काशी में आये। इनने भी मेरी कविता सुन वही आशंका की कि इस छोटे वय में ऐसी अच्छी कविता का होना वहुत कठिन है। इस संदेह की निवृत्ति के लिए उनने एक दिन समस्या दी और कहा कि मेरे सामने पूरी करो।

समस्या-- मूँदि गईं आखैं तव लाखैं कौन काम की।

मैंने तत्क्षण कवित्त बनाया, सो यह है :--

चमकि चमाचम रहे हैं मनिगन चारु
सोहत चहूँधा धूम धाम धन धाम की।
फूल फुलवारी फल फैलि कै फवे हैं तऊ
छवि छटकीली यह नाहिन अराम की॥

काया हाड़ चाम की लै राम की विसारी सुधि
जाम की को जानै बात करत हराम की।
अम्बादत्त भाखैं अभिलाषैं क्यों करत झूठ
मूँदि गईं आँखैं तब लाखैं कौन काम की ॥

ओझाजी ने पारितोषिक, सर्वांग के दिव्य वस्त्र तथा प्रशंसापत्र देकर गुण-ग्राहिता प्रकट की। गुणियों के समाज में इसी समय मेरा नाम फैला।

ग्यारह वर्ष के वय में मैं अमरकोष, रूपावली और कुछ काव्य समाप्त कर पंडित कृष्णदत्तजी से लघुकौमुदी पढ़ने लगा। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पिताजी से पढ़ता था और पण्डित ताराचरण तर्करत्न भट्टाचार्य के यहाँ साहित्य-दर्पण और सिद्धांत लक्षण पढ़ना आरंभ किया।

जिस समय मेरा १२ वर्ष का वय था उसी समय एक तैलंग वृद्ध अष्टावधान काशी में आये और प्रसिद्ध गुणप्रिय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी के यहाँ अपना अष्टावधान कौशल दिखलाया। बाबू हरिश्चंद्रजी ने पण्डितों की ओर दृष्टि देकर कहा कि इस समय काशी-वासी भी कोई चमत्कार इनको दिखलाते तो काशी का नाम रह जाता। यह सुन सब तो चुप रहे, परंतु मेरे पूज्य पिता ने कहा कि अच्छा, यह बालक एक सरस्वती यंत्र कविता करता है सो देखिए। मेरे आगे लेखनी, मसि, पत्र खसकाये गये। मैंने एक पत्र पर आठ-आठ कोष्ठ की चार पंक्तिवाला आयत यंत्र बनाया और पूछा कि किस पदार्थ का वर्णन हो। बाबू हरिश्चंद्र के सहोदर अनुज बाबू गोकुलचन्द्रजी ने कौतुक पूर्वक कहा कि इस घड़ी का वर्णन कीजिए। मैंने कहा—"इन कोष्ठों में जहाँ-जहाँ कहिए, मैं कोई-कोई अक्षर लिखता जाऊँ, सूधा बाँचने में श्लोक होगा।" इसका भावार्थ तैलंग शतावधान को समझा दिया गया। वे जिस-जिस कोष्ठ में बताते गये, वहाँ-वहाँ मैं अक्षर लिखता गया, अन्त में यह श्लोक प्रस्तुत हुआ—

घटी सुवृत्ता सुगतिर्द्वादशांकसमन्विता।
उन्निद्रा सततं भाति वैष्णवीव विलक्षणा ॥

साधुवाद के अनन्तर शतावधान ने कहा—"सुकविरेषः"। बाबू हरिश्चन्द्र

ने "इससे बढ़कर आपको क्या दें" कहा। एक प्रशंसापत्र लिख दिया उसमें "काशी-कविता-वर्द्धिनी-सभा" से सुकवि पद मिला, इसकी सूचना दी।

तेरह ही वर्ष के वय में मैं पितृचरण-सहित डुमराँव राजधानी में आया। यहाँ के राजा महाराज राधिकाप्रसाद सिंह मेरी कविता सुन अति प्रसन्न हुए।

क्रमशः मुझको इधर तो सांख्य, योग, वेदांत पढ़ने का व्यसन हुआ और उधर संगीत में सितार, जलतरंग, आदि का। सं० १९३२ में काशी में गवर्नमेंट कालिज में ऐंग्लो संस्कृत विभाग में मैंने नाम लिखाया। अँग्रेजी भी कुछ-कुछ समझ चला। अपने बहनोई पंडित वासुदेव जी से वैद्य-जीवनादि छोटे-छोटे वैद्यक ग्रंथ भी पढ़ने लगा। मैंने बंगभाषा में भी परिश्रम आरम्भ किया और धीरे-धीरे हिंदी के लेख लिखने लगा। इन दिनों मेरा और भारत-जीवन के संपादक बाबू रामकृष्ण का अधिक संघट्ट रहता था और बाबू देवकी-नन्दन, बाबू अमीरसिंह और बाबू कार्तिकप्रसाद प्रभृति हम लोगों के अंतरंग मित्र थे।

महाराज मिथिलेश का राज्याभिषेक-समय आसन्न था। उनके पण्डित युगलकिशोर पाठकजी के द्वारा राजाज्ञा पाकर मैंने महाराज के लिए प्रसिद्ध सामवत नाटक बनाया।

सं० १९३४ में ऐंग्लो की उत्तम वर्ग तक की पढ़ाई मैंने समाप्त की। इसी वर्ष अभिनव स्थापित काश्मीराधीश के संस्कृत कालेज में मैंने नाम लिखवाया। वहाँ परीक्षा दी। कालिज की प्रधान अध्यक्षता जगत्प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानंदजी के हाथ में थी। इनने यावत्पण्डितों के समक्ष मुझे व्यास पद दिया। यों तो मैं पहले ही से व्यासजी कहा जाता था; परन्तु अब पद और भी पक्का हो गया।

सं० १९३७ में काशी-गवर्नमेंट कालिज में मैंने आचार्य परीक्षा दी। इस वर्ष साहित्य में १३ और व्याकरण में १५ छात्र परीक्षा देने गये थे। उनमें साहित्य में केवल मैं उत्तीर्ण हुआ और व्याकरण में २ छात्र उत्तीर्ण हुए। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण गवर्नमेंट से मुझे साहित्याचार्य-पद मिला। सं०१९३१ में तो मेरी माता का परलोकवास हो गया था। सं०१९३७ के आरंभ ही में मेरे पूज्य पिता का भी काशीवास हो गया। इस कारण मैं अति दुःखित था।

ऋण अधिक हो गया। और आश्चर्य यह है कि इसी अवस्था में मुझे आचार्य-परीक्षा पास करना पड़ा था, जो ईश्वर की कृपा ही से हुआ।

थोड़े ही दिनों के अनन्तर पोरबंदर के गोस्वामी वल्लभ-कुलावतंस श्री जीवनलालजी महाराज से मेरा परिचय हुआ। वे मुझसे कुछ पढ़ने लगे। उनके साथ-साथ कलकत्ते गया। वहाँ सनातन-धर्म के विभिन्न विषयों पर मेरी २८ वक्तृताएँ हुईं। कई सभाओं में वंगदेशीय पंडितों से गहन शास्त्रार्थ हुए। काशी में आने पर मैंने वैष्णव-पत्रिका नामक मासिक-पत्र निकाला। उस समय मुझे ऐसा अभ्यास हो गया था कि २४ मिनट में १०० श्लोक बना लेता था। इसको देखकर काशी के ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा के सभ्य पंडितों ने संवत् १९३८ के माघ मास में मुझे "घटिका-शतक" पद सहित एक चाँदी का पदक दिया।

जीविका के अभाव से मैं कष्टग्रस्त था और ऋण सिर पर सवार था। सं० १९४० में बनारस कालिज के प्रिंसिपल ने मुझे मधुवनी संस्कृत स्कूल का अध्यक्ष बनाकर दरभंगा जिले भेज दिया। सं० १९४३ में इंस्पेक्टर ने मुजफ्फरपुर ज़िला-स्कूल में मुझे हेड पण्डित नियुक्त किया। सं० १९४४ में भागलपुर जिला स्कूल क्षतिग्रस्त हो रहा था। इंस्पेक्टर ने मुझे वहाँ भेज दिया। सं० १९४५ में सामवत नाटक खड्गविलास प्रेस,पटना में छपकर तैयार हुआ। महाराज मिथिलेश के अर्पित हुआ। महाराज बहादुर ने भी अपनी योग्यतानुसार मेरा सम्मान किया। सं०१९४८ में बिहारी-विहार कई वर्ष के परिश्रम से मैंने बनाकर समाप्त किया। पर किसी ने यह पुस्तक हस्तलिखित ही चुरा लिया। पुनः इसको बहुत श्रम से तैयार किया। सं० १९५० में छुट्टी लेकर देश-भ्रमण के लिए मैं चला। काशी की महासभा में काँकरौली-नरेश गोस्वामी बालकृष्ण लाल महाराज ने मुझे "भारतरत्न" पद सहित सुवर्ण पदक दिया। सनातन-धर्म-महामंडल दिल्ली से "विहारभूषण" पद के साथ सोने का तमगा मुझे मिला। महाराजाधिराज श्री अयोध्यानरेश ने मुझे "शतावधान" पद सहित सुवर्ण-पदक तथा सम्मान-पत्र दिये और बम्बई में श्री गोस्वामी घनश्यामलालजी महाराज ने सभा कर "भारतभूषण" पद सहित सुवर्ण-पदक दिया।"

११- महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य

नवम्बर सन् १८४८ से- अक्तूबर १९२१ ई

उपनिषद् में आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में एक वाक्य है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यह आत्मा जंतु-मात्र के अभ्यंतर निहित है। इसी को थोड़ा अर्थ वैपरीत्य के साथ इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव एक साथ ही अत्यन्त नीच और निन्दनीय भी है तथा परमोच्च और परमादरणीय भी। स्वार्थ की क्षुद्रतम भावनाओं से अभिभूत होकर जब वह चोरी, हत्या और नृशंसता सम्बन्धी नाना प्रकार के नारकीय कर्म करने लगता है तब उसकी नीचता का कोई मानदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार शील सौजन्य और दया-दाक्षिण्य सम्बन्धी अनेक प्रकार के उदात्त और अवदात कर्मों के आचरण से जब वह महतो महीयान् बनता है तब उसकी महत्ता का भी कोई स्थित मानसूत्र नहीं निर्मित किया जा सकता। इस विषय पर थोड़ा भी ध्यान देने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-जीवन के लिए पवित्र चरित्र ही सर्वस्व है। विद्या, विभव और वंश-गौरव आदि से रहित भी मनुष्य केवल शुद्ध चरित्र के कारण परिपूजित और प्रशंसित होता है। अमल-धवल चरित्र के साथ यदि विद्या और विमल वंश भी हुआ तो उसे सुवर्ण और सुगंध का ही योग समझना चाहिए। प्रयाग विश्वविद्यालय के दिवंगत संस्कृताध्यापक महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम जी भट्टाचार्य इसी कोटि के नर-रत्न थे। पाश्चात्य-सभ्यता के प्रवाह-मय प्रसार के बीच भी उन्होंने अडिग रहकर प्राचीन भारतीय ऋषि-जीवन व्यतीत किया और अन्त में सुरभारती की सेवा से सम्प्राप्त समस्त सम्पत्ति के द्वारा एक संस्कृत-पाठशाला की स्थापना कर अपने को यशःकार्य के द्वारा अमर बनाया। इनका स्पृहणीय जीवन-वृत्त इनके समान ही निर्मल चरित्र और आचार-विचारवाले इनके प्रिय शिष्य स्वर्गीय

पण्डित मदनमोहन मालवीय, विश्व-विख्यात नेता और काशी हिंदू विश्वविद्यालय जैसी प्रशंसनीय संस्था के जन्मदाता ने संक्षिप्त रूप से लिखा है। जिसका सारांश न उद्धृत कर महामना की हिंदी लेखन-शैली का भी पाठकों को परिचय प्राप्त कराने की दृष्टि से अविकल रूप से मैं यहाँ उसे दे रहा हूँ। महामना ने, इसे ऐसा प्रतीत होता है विशुद्ध धार्मिक दृष्टिकोण से लिखा है अतः इसमें पं० जी के धार्मिक जीवन का ही उभार अधिक हुआ है। पं० जी का लिखा हुआ "ऋजु व्याकरण" बहुत दिनों तक अँग्रेजी स्कूलों में पढ़ाया जाता रहा है। अँग्रेजी के साथ वैकल्पिक विषय के रूप में संस्कृत पढ़नेवालों के लिए यह पुस्तक बहुत उत्तम है। इससे व्यवहार-योग्य संस्कृत का सरलता के साथ ज्ञान हो जाता है।

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य्यजी के पूर्वज कलकत्ते के पास, जिला चौबीस परगना के अन्तर्गत, राजपुर नामक ग्राम के निवासी थे। बंग देश के ब्राह्मणों में कुछ लोग 'पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण' कहलाते हैं। उसी श्रेणी के अन्तर्गत भट्टाचार्य्यजी का घराना है।

पण्डित आदित्यरामजी का गोत्र घृतकौशिक है और इनकी शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत कण्व शाखा है। इनके मातामह-वंश में भी बड़े-बड़े विद्वान् हो गये हैं। स्मार्त रघुनन्दन के प्रसिद्ध टीकाकार, पण्डित काशीराम वाचस्पति के पौत्र, महाविद्वान् पं० राजीवलोचन न्यायभूषण इनके मातामह थे।

पं० आदित्यरामजी के पिता का नाम पं० रामकमल भट्टाचार्य्य था। वे बाल्यकाल में ही मातृ-पितृहीन होकर नाना के यहाँ पले थे, पर बड़े होने पर अपने मकान राजपुर को चले गये थे। उस समय घर में उनके एक पितृव्य थे जो विपत्नीक और सन्ततिहीन थे। उन्होंने तीर्थ-यात्रा के लिए काशी, प्रयाग तथा वृन्दावन जाने का निश्चय किया। युवक रामकमल ने भी उनके साथ चलने का विनयपूर्वक आग्रह किया। उस समय उन्हें रामकमल के उस विनयपूर्ण आग्रह को स्वीकार करना पड़ा और घूमते-घामते वे दोनों प्रयाग आये तथा यहाँ अपने सजातीय पं० राजीवलोचन से मिले। पं० राजीवलोचनजी के एक कन्या थी जिसका नाम श्रीमती धन्यगोपी देवी था। 'कन्याप्येवं पालनीया

शिक्षणीया च यत्नतः'—मनुजी के इस वचनानुसार पण्डितजी अपनी कन्या को संस्कृतादि की अच्छी शिक्षा दे रहे थे। परम सुन्दर युवक रामकमल को दूर देश में अपने निकट पाकर उनको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने अपनी कन्या का विवाह रामकमल के साथ करने का प्रस्ताव किया और वृन्दावन से लौटकर रामकमल के पितृव्य ने इनका विवाह पं० राजीवलोचनजी की सुन्दरी और सद्गुण सम्पन्ना कन्या के साथ काशीजी जाकर कर दिया। वंग देश में अपने घर में कोई न रहने के कारण और ससुराल का वंधन अधिक होने से रामकमल वृद्ध सास-ससुर को इस दूर देश में छोड़कर अपनी पत्नी को साथ लेकर स्वदेश न जा सके। उनको यहीं बस जाना पड़ा। उनके जितनी संततियाँ हुई थीं उनमें तीन पुत्र और तीन कन्याएँ जीवित रहीं। ज्येष्ठ पुत्र का नाम वेणीमाधव, मध्यम का घनश्याम और तृतीय का आदित्यराम भट्टाचार्य्य था। इन लोगों का जन्म प्रयाग में ही हुआ था। ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र प्रयाग में ही घर बनाकर स्थायी हो गये और मध्यम पुत्र घनश्याम वंग देश में जाकर रहने लगे।

पण्डितजी का जन्म और बाल्य तथा पठनावस्था

पण्डितजी की माता धन्यगोपी देवी, अपने पिता से पढ़कर, बड़ी विदुषी हो गयी थीं। सूतिकागार में ही उन्होंने पण्डितजी की जन्मकुण्डली बना ली थी जो अभी तक सुरक्षित है। ये बड़ी धर्म-परायणा थीं। रसोई बनाते-बनाते भी शास्त्रीय विषयों में ही मग्न रहती थीं। वे रात्रि को तीन बजे उठकर प्रतिदिन पड़ोस की दो-चार स्त्रियों के साथ कीटगंज से त्रिवेणी जाकर स्नान करती थीं। वे बड़ी दानशीला थीं। शरीर पर के सोने के गहने भी उतारकर दे देती थीं। कहते हैं कि जब पण्डित आदित्यरामजी गर्भ में थे तभी इनको स्वप्न हुआ था कि तुम्हारे गर्भ में एक विशिष्ट पुरुष आया है। तभी से इन्होंने निश्चय कर लिया था कि जन्म होने पर इस पुत्र का नाम आदित्यराम रक्खेंगी। इनका जन्म संवत् १९०४ के मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया (तदनुसार २३ नवम्बर सन् १८४७ ई०) को हुआ था। आदित्यराम ने अपनी बाल्यावस्था प्रयाग में ही बितायी थी। दस वर्ष की अवस्था में वे अपने कुटुम्बियों के साथ बंग देश

गये थे। वहीं भट्टपल्ली (भाटपाड़ा) में गंगा-तट पर उनकी माता ने स्वर्ग-लाभ किया। इस दुर्घटना के बाद ये लोग प्रयाग लौट आये। यहाँ आदित्यराम की नानी जीवित थीं। इस स्थान में इनके विद्याभ्यास का प्रबंध ठीक-ठीक नहीं हो रहा था। उन दिनों यहाँ कोई अँग्रेजी विद्यालय न रहने के कारण कुछ बड़े होते ही, तेरह वर्ष की अवस्था में, इनके ज्येष्ठ भ्राता ने इनको काशी भेज दिया। वहाँ जाकर इनका पढ़ने में बड़ा मन लगा।

काशी में आदित्यरामजी सरकारी स्कूल में अँग्रेजी और घर पर संस्कृत पढ़ने लगे। उनको इस बात की धुन थी कि उस समय काशी में जो बड़े-बड़े प्राचीन पण्डित थे उन सब के पास जा-जाकर कुछ-न-कुछ पढ़ते रहें। वे लोग भी उनको स्नेहवश पढ़ाया करते थे। इस तरह से उन्होंने पण्डित कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पण्डित प्रेमचन्द्र तर्क-वागीश, पण्डित बेचन राम त्रिपाठी और पंडित जयनारायण तर्कालंकार के पास संस्कृत का अध्ययन किया। उधर अँग्रेजी पढ़ने में भी ध्यान रखते थे। सरकारी स्कूल से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर कालेज में भरती हो गये। यह सन् १८६४ ई० की बात है।

कालेज में जाने के बाद कुछ ही दिनों में अपने प्रतिभा-बल से ये कालेज के अध्यक्ष स्वर्गवासी श्रीमान् ग्रिफिथ साहब की निगाह में पड़ गये। ग्रिफिथ साहब बड़े विद्वान् और संस्कृत के भी बड़े पंडित थे। उन्होंने वेद, वाल्मीकीय रामायण तथा और भी अनेक संस्कृत काव्यों का अँग्रेजी के गद्य और पद्य में अनुवाद किया था। उस समय उनको दो छात्र बड़े प्रिय थे। एक तो थे पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र और दूसरे पं० आदित्यरामजी। उनमें पण्डित लक्ष्मीशंकर आदित्यरामजी से उच्च कक्षा में पढ़ते थे। बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद जब सर्वोच्च श्रेणी एम० ए० में पढ़ने का समय आया, तब आदित्यरामजी ने अँग्रेजी साहित्य में एम० ए० पास करने का निश्चय किया जिससे कि ग्रिफिथ साहब के अँग्रेजी भाषा के पांडित्य से लाभ उठावें; परन्तु साहब ने कहा कि तुम पण्डित बनो। उनकी आज्ञानुसार उन्होंने संस्कृत में ही एम० ए० पास करने का निश्चय किया।

उन दिनों इस प्रांत में कोई विश्वविद्यालय नहीं था। आगरा तक के

सब कालेज कलकत्ता विश्वविद्यालय के अंतर्गत थे। काशी के कालेज में कुछ दिन एम० ए० में संस्कृत पढ़कर कलकत्ते के सरकारी संस्कृत कालेज में जाकर पढ़ने की आवश्यकता हुई। वहाँ स्वर्गवासी महामहोपाध्याय पं० महेशचंद्र न्यायरत्न की अधीनता में एक साल पढ़कर एम० ए० पास किया। पण्डितजी ने छात्रावस्था में बहुत-सी वृत्तियाँ, सुवर्णपदक और पारितोषिक प्राप्त किये थे। एक-एक साल में दो-तीन वृत्तियाँ तक पाते रहे, इस कारण उनको घर से खर्च लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वे छात्रावस्था में प्रवन्ध आदि लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में छपाया करते थे। अखबारों में प्रबंध आदि लिखने का शौक उनको उसी समय से हो गया था। इसी समय २० वर्ष की अवस्था में, उनका विवाह हुआ। कलकत्ते से कुछ दूर काँठालपाड़ा नाम का एक प्रसिद्ध कसवा है। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक बावू बंकिमचन्द्र का वहीं मकान था। इसी स्थान के एक विद्वान्-कुल की कन्या श्रीमती श्यामांगिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ।

एम० ए० पास करने पर उन्हें बुलाकर ग्रिफिथ साहब ने शिक्षा-विभाग में एक सरकारी पद पर नियुक्त कर दिया। मध्य-प्रदेश में सागर के विद्यालय में, सन् १८७२ ई० के प्रारंभ में, वे संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। उसी समय ग्रिफिथ साहब भी इस प्रांत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर प्रयाग में आ गये। सागर में पण्डितजी का बहुत दिन तक रहना नहीं हुआ। उसी समय प्रयाग में म्योर सेन्ट्रल कालेज के नाम से सरकारी कालेज स्थापित किया गया। आजकल जिस कोठी का नाम 'दरभंगा-कैसल' है, उन दिनों उसका नाम 'लौदर कैसल' (लौदर साहब की कोठी) था। उसी कोठी में यह कालेज खोला गया। पण्डितजी सागर में तीन चार महीने भी न रह पाये थे कि ग्रिफिथ साहब ने उनको प्रयाग बुला लिया और नये कालेज में उन्हें संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। इस पद पर से ५५ वर्ष की अवस्था में पण्डितजी ने अवकाश ग्रहण किया। बीच-बीच में कई बार आपको संस्कृत का पढ़ाना छोड़कर अँग्रेजी साहित्य भी थोड़े-थोड़े दिनों के लिए, पढ़ाना पड़ा था। काशीस्थ सरकारी संस्कृत

कालेज में आप अँग्रेजी भाषा के अध्यापक होकर करीब ढाई वर्ष तक रहे। यह पद उन दिनों अँग्रेजों के लिए सुरक्षित था, परन्तु पण्डित जी ने कुछ दिनों के लिए इसको सुशोभित किया था। आप ही ऐसे भारतीय विद्वान् थे जो इस पद पर पहले पहल नियुक्त किये गये थे। पीछे जब टीबो साहब, जो जर्मन थे, उस पद के लिए स्थायी रूप से नियुक्त होकर आये तब वे प्रयाग कालेज के अपने पुराने पद पर फिर लौट आये।

पण्डितजी ने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के शिक्षा-विभाग के कार्यों में भी भाग लेकर अच्छी कीर्ति पायी थी। क्या देशी क्या अँग्रेज, सभी उनको मानते थे। अवकाश ग्रहण करते समय संयुक्त-प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर साहब, शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर साहब और म्योर कालेज के प्रिंसिपल साहब, तथा विश्व-विद्यालय की अन्यान्य शिक्षा-समितियों ने उनको, बहुत प्रशंसा करके बिदा किया था। विश्वविद्यालय के प्रबंध-विषयों में पण्डितजी ने बहुत स्वतंत्रता और निर्भीकता से काम किया था, जिसके लिए उन्हें यश भी बहुत मिला था। वे प्रवेशिका से लेकर एम० ए० की परीक्षा तक के संस्कृत के परीक्षक होते थे। वे बड़े ही न्यायनिष्ठ थे और किसी के साथ तनिक भी पक्षपात नहीं करते थे। प्रयोजन पड़ने पर बड़े स्पष्टवक्ता थे। इस कारण कभी-कभी अफसर लोग उनसे चिढ़ जाते थे, तो भी उनकी न्याय-परायणता के कारण उनका सदा सम्मान करते थे।

हिन्दी के भी वे बड़े ही प्रेमी थे और हिंदी-साहित्य की उन्नति के लिए सदा उत्साह दिखाते थे। उस समय हिंदी-भाषा में कोई अच्छी मासिक पत्रिका नहीं थी। इस अभाव को दूर करने के लिए उन्होंने बहुत चेष्टा की थी और जब प्रयाग के इंडियन प्रेस ने सरस्वती नाम की पत्रिका निकाली तब उनको बड़ा संतोष हुआ। वे काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य और शुभेच्छु थे।

हिंदू-छात्र-मंडली में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। छात्रों का पक्ष लेकर, समय-समय पर, वे अधिकारियों से लड़ तक बैठते थे और इसका सदा ध्यान रखते थे कि उन छात्रों के साथ कोई अन्याय न हो। ये सब बातें अब पुरानी और विस्मृत कहानी सी हो गयी हैं। छात्र लोग भी उनको देवता और गुरु के

समान मानते थे। वे सब प्रांतों के छात्रों का समान भाव से आदर करते थे और जो छात्र अन्य प्रान्तों से पढ़ने के लिए आते थे उन पर तो और भी अधिक कृपा करते थे। उनके कितने ही छात्र दूर-दूर स्थानों में उच्च पदों पर पहुँचे हैं और आज भी उनकी प्रीति और उनके उच्च चरित्र की वार्ता प्राय: कहते रहते हैं। सरकारी नौकर होने के कारण वे सार्वजनिक कामों में योगदान नहीं कर सकते थे, तथापि लोगों को यथोचित उत्साह बराबर देते रहते थे और देश के कामों में सहानुभूति भी रखते थे। बीच-बीच में अँग्रेजी समाचार-पत्रों में सामयिक विषयों पर अपने गंभीर विचार के प्रबंध आदि भी छपवा दिया करते थे। वह समय आजकल के समान नहीं था। देश-हित की बातें कम लोग समझते थे और खड़े होकर बोलने लिखनेवाले तो इस प्रांत में बहुत ही कम थे। कुछ दिनों तक उन्होंने 'इण्डियन यूनियन' नामक एक स्थानीय अँग्रेजी समाचार-पत्र का अस्थायी रूप से और परोक्ष भाव से, प्रयोजन-वश, सम्पादन भी किया था। वे देश की बनी हुई वस्तुओं के व्यवहार के विषय में बड़े कट्टर थे। बंग देश में इस विषय का पहले पहल आंदोलन होने के बहुत पहले ही वे इस विषय पर ध्यान देकर इसके अनुरागी हो गये थे। प्रयाग में 'हिंदू-समाज' उन्हीं के उपदेश और प्रोत्साहन से स्थापित हुआ था। पंडितजी की लिखी हुई अपील आज भी पढ़ने योग्य है। अँग्रेजी राज्य के समय में हिंदू-समाज के संगठन का यह पहला प्रयत्न था। उससे हिंदू सज्जनों का उत्साह बहुत बढ़ा था। हिंदू-समाज कई वर्ष तक हिंदुओं के संगठन का कार्य करता रहा। पण्डितजी के उपदेश और प्रोत्साहन से मैं उसका सदस्य हो गया था। मैं उस समय म्योर सेंट्रल कालेज का छात्र था। पण्डितजी मुझ पर बहुत स्नेह रखते थे। उनके सम्पर्क से मुझ में देश-भक्ति का भाव दृढ़ होता गया।

पण्डितजी 'थियोसोफिकल' सोसाइटी में शामिल हो गये थे; क्योंकि उससे प्रारम्भ में हिंदू-धर्म को बहुत सहायता मिली थी। अच्छे-अच्छे प्रतिभाशाली अँग्रेज, ईसाई पादरियों का प्रतिवाद करके, जब वे हिंदू-धर्म का समर्थन करने लगे तब हिंदू-धर्म को बहुत बल मिला और जिन अँग्रेजी पढ़े देशी लोगों की श्रद्धा अपने धर्म पर शिथिल हो रही थी, उनकी बुद्धि लौटी और वे स्वधर्म के

प्रेमी होने लगे। परन्तु पीछे जब थियोसोफिकल समाज में अवान्तर की बहुतेरी बातें ग्रहण की जाने लगीं तब उससे पण्डित जी की श्रद्धा घट गयी; यहाँ तक कि उससे उनका सम्बन्ध भी शिथिल हो गया।

हिन्दू लड़कों का स्वधर्म में छात्रावस्था से ही प्रेम बना रहे और वे दूसरे के बहकाने से न बहकें, इस अभिप्राय से जब १८९८ ई० में काशी में श्रीमती एनी बेसेंट, बाबू गोविन्ददास, डाक्टर भगवानदास, बाबू उपेन्द्र नाथ वसु तथा अन्य सज्जनों नें सेंट्रल हिंदू कालेज खोला तब पण्डित जी ने--उसके एक बड़े समर्थक के रूप में--उत्साह पूर्वक उसमें सहयोग किया था और जब उसके संचालकों की यह राय हुई कि कोई प्रतिष्ठित हिंदू विद्वान् उस कालेज का प्रिंसिपल बनाया जाय तब उन्होंने पंडितजी को निमंत्रित किया। उसकी अध्यक्षता ग्रहण कर उन्होंने उन हिंदू सज्जनों का, जो उसको संदेह की दृष्टि से देखते थे, संदेह दूर कर दिया। यह कार्य उन्होंने सरकारी नौकरी से अलग होने के पीछे सन् १९०४ से १९०६ ई० तक किया था। फिर जब काशी-हिंदू विश्व-विद्यालय स्थापित करने की चर्चा उठी तब फिर पण्डितजी का उत्साह दूना हो गया। यद्यपि इस समय उनकी अवस्था अधिक हो गयी थी तथापि उस कार्य में उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। विश्वविद्यालय के स्थापित हो जाने पर उसमें प्रो-वाइस-चांसलर का उच्च पद ग्रहण कर वे फिर काशी गये और सन् १९१६ से १९१८ ई० तक बड़े परिश्रम और उत्साह से उस पद का काम करते रहे। एक नवीन आदर्श विश्वविद्यालय की संस्थापना और उसका संगठन करने के लिए वृद्धावस्था में पण्डितजी को बहुत परिश्रम करना पड़ा। इसका यह परिणाम हुआ कि उनके नेत्रों की ज्योति जाती रही और शरीर भी टूट गया; अतएव ७१ वर्ष की अवस्था में वे अपने प्रयाग के मकान में लौट आये। फिर उनका स्वास्थ्य और दृष्टि शक्ति नहीं सुधरी और तीन वर्ष बाद उनका शरीर भी छूट गया।

पण्डितजी ने अपनी संस्कृत पाठशाला के लिए अपने घर से लगा हुआ जो भवन बनवाया था, उसी में आकर वे उन दिनों रहने लगे थे, गृहस्थाश्रम का मकान छोड़ दिया था। १८ अक्टूबर सन् १९२१ ई० (कार्तिक कृष्ण

द्वितीया संवत् १९७८) को अरुणोदय के समय में वे उसी भवन में पर-ब्रह्म में लीन हुए। पण्डितजी को गवर्नमेंट ने सन् १८९७ ई० में महामहोपाध्याय की पदवी देकर सम्मानित किया था। इस समय उनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इसी समय उनको गार्हस्थ्य शोक भी पड़ा। इसके पूर्व वर्ष में उनके मध्यम भ्राता श्री घनश्याम भट्टाचार्यजी का देहान्त हो गया। पण्डितजी को भ्रातृ-वियोग का शोक अभी ताजा ही था कि इसी समय उन पर दूसरा वज्रपात हुआ। उनका सुयोग्य और अत्यन्त स्नेहभाजन ज्येष्ठ पुत्र सत्यवान् भट्टाचार्य्य, चौबीस वर्ष की अवस्था में, माता, पिता तथा सब कुटुम्ब को गंभीर शोक में डालकर परलोक को चला गया। इस दुर्घटना से पण्डितजी को प्राणान्तक पीड़ा पहुँची। उनका हृदय इस परम शोक से बहुत व्यथित हुआ, परंतु उनके चरित्र की गम्भीरता का अद्भुत परिचय इसी समय मिला। उनको इस भारी शोक में भी अश्रुपात करते कभी किसी ने नहीं देखा। केवल निद्रा की अचेतनावस्था में शोक का गम्भीर उच्छ्वास सुनने में आता था। इस दुर्घटना के पूर्व तक इनके केश बिलकुल काले थे; किन्तु अब छः महीने के अन्दर आधे श्वेत हो गये। बाहर से ये पहले के समान ही अपनी दिनचर्या में लगे रहते थे, उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाती थी। उनकी पूजनीया पत्नी भी शोक से अभिभूत रहती थीं।

इस दुर्घटना के बाद पण्डितजी ने और पाँच वर्ष तक नौकरी की। ३० वर्ष की नौकरी पूरी करके, ५५ वर्ष की अवस्था में, सन् १९०२ ई० में उन्होंने अपने काम से अवकाश ग्रहण किया। अधिकारी चाहते थे कि वे अभी और कुछ दिनों तक काम करें; परंतु इस बात को उन्होंने नहीं स्वीकार किया। कालेज के अध्यक्ष टीबो साहब और अन्य सब अध्यापकों तथा छात्र-मण्डली ने मिलकर सभा की और पण्डितजी की प्रशंसा करके, खेद के साथ, उनको विदा किया। इस अवसर पर, आपस में चन्दा करके, पण्डितजी का एक बड़ा चित्र कालेज के पुस्तकालय में लगा दिया गया। कदाचित् ही कभी किसी अध्यापक की इतने सम्मानपूर्वक समारोह से विदाई हुई हो।

नौकरी से अवकाश ले लेने पर भी प्रयाग की युनिवर्सिटी के साथ पण्डित

जी का सम्बन्ध बना रहा। अधिकारियों के आग्रह से उसकी समितियों में उनको और भी कुछ वर्षों तक काम करना पड़ा, पर जब उस युनिवर्सिटी का नवीन संगठन होने लगा तब पण्डितजी अवसर पाकर हट आये; परंतु हिंदू-विश्व-विद्यालय के कार्य के लिए उन्हें कई बार काशी जाना पड़ा था। इस तरह शरीर के अस्वस्थ हो जाने पर जीवन के अन्तिम तीन वर्षों को छोड़कर वे अपनी आयु भर बराबर विद्या-दान के पवित्र कार्य में ही लगे रहे।

पण्डितजी की आत्मानुभव सम्बन्धी बातें

पण्डितजी बाल्यावस्था से ही बलिष्ठ, तेजस्वी और उद्यमशील थे। छात्रा-वस्था से प्रौढ़ावस्था तक बराबर व्यायाम करते रहे। बादाम का सेवन उन्होंने नियमपूर्वक आजन्म किया। गृहस्थी में रहकर भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। उनके ओजपूर्ण नेत्र उनके नाम को सार्थक करते थे। वे सत्यभाषी और स्पष्टवक्ता थे। घुमा-फिराकर बातें करना नहीं जानते थे। परंतु व्यक्तिगत भाव से न तो किसी का प्रतिवाद करते थे और न कटु वचन कहकर किसी को दुखी करते थे। वे परमार्थ-साधन में नियमपूर्वक लगे रहते थे। अपने जीवन की नित्यचर्या में वे यह बात दिखला गये हैं कि अपनी गृहस्थी का काम, जनता का काम और पारमार्थिक काम, इन सभी की तरफ ध्यान रखकर और इनका सामंजस्य कर मनुष्य को किस तरह कर्मशील होना चाहिए। वस्तुतः वे एक गृहस्थ योगी थे।

उनके धार्मिक जीवन पर सर्वप्रथम एक योगाभ्यासी साधु बाबा सुदर्शन-दास का प्रभाव पड़ा। ये श्री वैष्णव-सम्प्रदाय के वैरागी साधु थे और प्रयाग के गंगापार पुरानी झूसी के समुद्रकूप नाम के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान में रहते थे। इनके सिवा एक और महात्मा थे जो प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में, उनके मकान के पास ही रहते थे। इनका नाम पं० अम्बिकादत्तजी शास्त्री था। ये विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे परन्तु दैवी विभूति के बल से बहुश्रुत, सर्वशास्त्रों के पण्डित, हो गये थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनके पास जाकर उनसे भिन्न-भिन्न शास्त्रों की कठिन-कठिन समस्याओं का सामंजस्य करवाते थे। इनको और
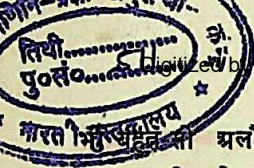
भी बहुत-सी अलौकिक बातें थी। ये शक्ति के सुसिद्ध उपासक थे। इन्होंने ज्वालामुखी पर्वत पर बहुत दिनों तक कठोर तप किया था। पण्डितजी इनके भी बड़े भक्त थे और उन्होंने नौकरी करते समय इनसे भी कुछ विद्याभ्यास किया था। इनके सत्संग के कारण वे आजन्म साधु-संतों के प्रेमी हो गये थे। वे अच्छे महात्माओं की खोज में सदा रहते थे और परिश्रम कर दौड़-दौड़कर जंगलों-पहाड़ों में भी उनके पास जा-जाकर उनका सत्संग किया करते थे। ऐसा करते-करते उन्हें एक विलक्षण महापुरुष की कृपा प्राप्त हुई। सपत्नीक पण्डितजी उनके शिष्य हो गये।

पंडितजी के शरीर में जब तक बल रहा तब तक वे नित्य सायंकाल त्रिवेणी-तट को जाते थे। सूर्य की उपासना भी विशेष रूप से करते थे। रात्रि में तीन बजे उठकर, पूजन आदि करके, सूर्योदय के समय सूर्य के अष्टोत्तर शतनाम का पाठ कर उनको साष्टांग प्रणाम करते थे। जब तक शरीर में बल बना रहा तब तक पंडितजी बराबर ऐसा ही करते रहे। पीछे घटाते-घटाते बैठे-ही-बैठे अपनी साधना करने लगे और सायंकाल को त्रिवेणीजी के भ्रमण-समय में गंगाजल घंटी में ले जाते थे। जहाँ सूर्यास्त होने लगता था वहाँ जूता उतार खड़े होकर सूर्य को अर्घ देते थे। जब युनिवर्सिटी की कमेटियों में या और कहीं सायंकाल आ जाता था तब भी पण्डितजी काम छोड़कर उसी घंटी में रखे गंगाजल से अर्घ देते थे। वे दोनों समय अग्नि में आहुति भी देते थे। जीवन के अंतिम दिवस तक इन सब नियमों का कभी उल्लंघन नहीं हुआ। उपासना के समय वे अपने पास एक इकतारा भी रखते थे। उसको लेकर नित्य दोनों वक्त, पूजा के अंत में, भजन गाया करते थे। वे बँगला, हिंदी, पंजाबी आदि सब तरह के भजन गाते थे। उनका क्या इष्ट था, कौन सम्प्रदाय था, यह उनके आचरण से कोई नहीं जान सकता था। वे सबके समान प्रेमी थे। साकार-निराकार, वैष्णव-शैव, आचारी-औघड़ और भिन्न-भिन्न दूसरे धर्मों के अनुयायी सब उनसे समान आदर पाते थे। क्रिस्तान, सूफी, मुसलमान, पारसी, सिक्ख—वे सभी का सम्मान करते और सबसे आदरपूर्वक मिलते थे। सबकी खातिर करते हुए भी वे अपने सनातन हिन्दू-धर्म में पूर्ण श्रद्धा और अनुराग से लगे रहे।

पण्डितजी का वासस्थान भी बड़ा उत्तम था। उनका मकान प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में, गंगा-तट पर, प्राचीन दशाश्वमेधजी से लगा हुआ है। इसे उन्होंने १८७६ ई० में खरीदा था। जिस समय यहाँ पहले कोई मकान नहीं था उस समय झोपड़ी बनाकर एक बड़े विद्वान् महापुरुष रहते थे। उनका नाम शिवशर्मा था। वे बालब्रह्मचारी विरक्त महात्मा नेपाल देश के थे। उन्हीं के नाम पर पण्डितजी ने अपने व्यय से एक संस्कृत पाठशाला स्थापित करायी है, जिसका प्रबंध काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय करता है। वे हिंदुओं की प्राचीन सम्पत्ति और धर्म के प्राण-स्वरूप शास्त्रों का सुरक्षण अत्यावश्यक समझते थे। इस काल में इसका अनादर होने से इसके मलिन हो जाने की भी उन्हें बड़ी आशंका थी। अतएव वे संस्कृत विद्या द्वारा उपार्जित अपनी स्थावर-जंगम सब सम्पत्ति इसी के पोषण के लिए अर्पित कर गये हैं। वह काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के हाथ में सुरक्षित है और वहाँ के प्रबंध से, उस धन के अधिकांश द्वारा, अपने गंगातट के मकान में पाठशाला के चलाने की व्यवस्था वे अपनी मृत्यु के पहले ही कर गये हैं।

महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा एम० ए०, साहित्याचार्य

स्वतंत्र भारत के सर्व प्रथम राष्ट्रपति, विहार के गाँधी, भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के मार्मिक पारखी, देशरत्न राजेन्द्र वाबू ने एक वार शर्मा जी के लिए कहा था—"मैं उनको बीसवीं सदी का बेजोड़ विद्वान् मानता हूँ। वे सचमुच इस युग के वृहस्पति थे। खेद है, हम उनका उनके योग्य सम्मान नहीं कर सके।" इसी प्रकार भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान् स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इनके निधन पर विहार से प्रकाशित होनेवाले 'युवक' पत्र के मई १९२९ के अंक में इनका जो जीवन-वृत्त लिखा था उसका शीर्षक दिया था—वे कपिल कणाद की कोटि के थे—इन सम्मतियों के आधार पर यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि शर्माजी वीसवीं शताब्दी के उच्चकोटि के विद्वान् थे। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। वे प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्री के प्रिय शिष्यों में थे। एक बार अध्ययन के समय शास्त्रीजी ने कहा—खेद है, इन दिनों कालिदास और वाण जैसे सुकवि और लेखक नहीं पैदा होते। महाकाव्यों की रचना कौन कहे बाण और मयूर के चण्डीशतक तथा सूर्यशतक के तुल्य शतकों की भी रचना-क्षमता लोगों में नहीं दृष्टिगोचर होती। सन्ध्या का समय था, रामावतार जी ने यह सब सुना और अभिवादन कर अपने वासस्थान पर आये और रातभर में 'मारुतिशतक' लिख डाला। प्रातःकाल हुआ। आवश्यक दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुए और अभिवादन कर मारुतिशतक सुनाया। गुरु गद्गद् हो उठे और उन्होंने रामावतार को गले लगाकर शुभाशीर्वाद दिया।

इनका जन्म बिहार के छपरा नगर में हुआ था। इनके पिता श्रीदेवनारायण शर्मा धर्मशास्त्र और कर्मकाण्ड के अच्छे पण्डित थे। कथावाचन उनकी मुख्य आजीविका थी। रामावतारजी जिस वर्ष दसवीं कक्षा में उत्तीर्ण हुए उसी वर्ष इनके पिताजी का देहांत हो जाने से घर का भार इनके ऊपर आ पड़ा और आर्थिक चिंता ने इन्हें आ घेरा। फलतः इन्होंने २५) मासिक पर स्कूल में नौकरी कर ली किन्तु ज्ञान-पिपासा की पूर्ति के लिए ये स्वाध्याय में अध्यवसाय के साथ संलग्न रहे और अनेक कठिनाइयों का कुछ भी ध्यान न कर १८९७ में क्वींस कालेज काशी की साहित्याचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उन दिनों इस परीक्षा में प्रविष्ट होनेवाले छात्र यदि ६० प्रतिशत से कम अङ्क प्राप्त करते थे तो उनको उपाध्याय की पदवी प्रदान की जाती थी। ६० प्रतिशत या उससे अधिक प्राप्त करनेवालों को आचार्य की उपाधि दी जाती थी। शर्माजी ने न केवल ६० प्रतिशत अंक ही प्राप्त किये प्रत्युत समस्त परीक्षार्थियों में सर्वोच्च सफलता प्राप्त की। अनन्तर १८९८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० आनर्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और वहीं से एम० ए० भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। इस प्रकार ससम्मान शैक्षिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर इन्होंने काशी के विख्यात सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में अध्यापक का पद ग्रहण किया और चार वर्ष तक वहाँ प्रतिष्ठा और छात्रवर्ग तथा सहकारी अध्यापक वृन्द की प्रीति पात्रता प्राप्त कर ये पटना कालेज के संस्कृत विभाग के प्रधान हो गये। ये दो वर्ष तक कलकत्ता विश्व-विद्यालय के वसुमल्लिक व्याख्याता भी रहे। इन विभिन्न पदों पर काम करते हुए इनकी विद्वत्ता की ख्याति विद्वत्-समाज में बढ़ती गयी। इन्हीं दिनों देश की शिक्षा के लिए सर्वाधिक सुन्दर और सुदृढ़ प्रयास करनेवाले देश पूज्य नेता महामना मदनमोहन मालवीय अपने अभिनव स्थापित काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के लिए योग्यतम विद्वानों को लाकर उनके द्वारा विश्वविद्यालय को गौरवान्वित करने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने जब शर्माजी की विलक्षण विद्वत्ता और प्रतिभा के संबंध में जाना तब वे इन्हें विश्व-विद्यालयीय प्राच्य-विद्या-विभाग का अध्यक्ष बनाने के लिए अधीर हो उठे। शर्माजी उनका अनुनय भरा

आग्रह न टाल सके और १९१९ में उन्होंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के ओरिएण्टल कालेज के अध्यक्ष-पद को अलंकृत किया। इस पद पर उन्होंने ३ वर्ष तक कार्य किया। अनन्तर मातृभूमि के ममत्व तथा विहार की प्रतिष्ठित जन-मण्डली के अनुरोध से वे पुनः पटना कालेज चले गये और जीवन के अन्त तक वहीं रहे।

इनकी प्रातिभिक विलक्षणताएँ

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की अंगभूत संस्थाओं में कार्य करनेवाली विद्वन्मण्डली में इनकी बौद्धिक विलक्षणताओं की चर्चा अब भी यदा-कदा हुआ करती है। इनकी कक्षा में अध्ययन-अध्यापन का कोई विषय नहीं नियत था, जो कुछ भी लेकर जाय उसे ही वह पढ़ाने लगते थे। बहुधा केवल व्याख्यान के रूप में ही शास्त्रीय तत्त्वों को समझाया करते। एक बार परीक्षा में असफल एक छात्र अत्यन्त क्रुद्ध भाव से इनकी कक्षा में आया और उच्च स्वर से कहने लगा; आपने मुझे अनुत्तीर्ण कर दिया, आप निर्दय हैं, मैं आत्महत्या करूँगा आदि। उसके बहुत कुछ बक लेने पर शर्माजी ने शांत भाव से कहा---तुम्हें युनिवर्सिटी ने फेल किया है, मैंने नहीं। तुम शांति से पढ़ो और भोजन मेरे यहाँ कर जाया करो। एक बार मालवीय जी के साथ कोई प्रतिष्ठित अंग्रेज विद्वान् इनके पास आये और इनके शरीर का अधिकांश भाग खुला देखकर उनसे इस सम्बन्ध में कुछ कहा—शर्माजी ने उसे निर्भीक भाव से उत्तर दिया कि मेरी अपेक्षा आप अधिक अव्यावहारिक हैं। गरम देश की इस दुपहरी में तुमने अपने को कपड़ों से कैसा व्यर्थ आच्छादित कर रक्खा है और उसी की सँवार में चिन्तित हो। इधर मैं प्राकृतिक स्वच्छन्द पवन का आनन्द लेता हुआ कैसा सुखी और शांत हूँ, यदि तुम्हें मेरे देश का व्यवहार पसन्द नहीं है तो मैं तुम्हारे व्यवहार को उससे भी बुरा समझता हूँ। इसी प्रकार एक समय एक प्रोफेसर महाशय इनसे मिलने आये और अंग्रेजी में वार्त्ता आरम्भ की। आपने उसका उत्तर फ्रेंच में दिया। प्रोफेसर महोदय फ्रेंच में अनभिज्ञ थे। पुनः शर्माजी संस्कृत और प्राकृत में बोले। इन सभी भाषाओं में अनभिज्ञ प्रोफेसर को इससे बड़ी लज्जा हुई।

शर्माजी ने इस विषय पर कोई बात न की और अन्त में हिंदी में बड़ी देर तक अन्य विषयों पर बातें करते हुए प्रोफेसर महोदय को इस बात के समझने का अवसर दिया कि भारत में रहते हुए उसकी भारती का अनादर कर विदेशी भाषा का व्यवहार करना मूर्खता नहीं तो क्या ?

बहुधा आप प्रायः ४ बजे ही अपने एक-दो विद्यार्थियों को घर पर पढ़ने के लिए बुलाते और आप उस समय उठ कर अपने ही हाथों कुएँ से बहुत बड़ा घड़ा भर कर पानी निकालते और सिर पर बीसों घड़े उँडेलते जाते। पुनः जाड़ों के दिनों में भी सूती बंडी पहनकर मोटा-सा लट्ठ लेकर घूमने निकल पड़ते और छात्र को दूर-दूर चलने का आदेश कर वेग के साथ लाठी घुमाते हुए मीलों घूमते और कण्ठस्थ पाठ पढ़ाते जाते। अनंतर सूर्योदय पर पुस्तक बँचवा कर पंक्तियों का अर्थ समझाते। प्रिंसिपल के पद पर काम करते हुए भी आप घुटनों तक ऊँची धोती, सूती बंडी, काली कलकतिया स्लीपर पहनकर तथा कभी हैट पहन कर और कभी नंगे सिर कालेज आते थे। बहुधा मोटे डंडे के साथ छोटी लुटिया और डोर भी कंधे पर लटकता होता। फाउन्टेनपेन जहाँ कहीं भी लटका देते और झूमते हुए स्वच्छंद भाव से चलते। बाजार जाते तो हाँडी भर अच्छी मिठाई लेते और अपने बलिष्ठ बाएँ हाथ पर उसे रख दाहिने हाथ से खाते हुए घर आते। विद्यार्थी मिलते तो उनसे भी खाने का आग्रह कर खिलाते और समझाते कि इस प्रकार खाने में अनेक लाभ हैं। समय की बचत, घर पहुँचकर बबुआ (पुत्र) की छीन-झपट से बचत और साथ ही व्यायाम भी। साग-भाजी आप बहुत अधिक मात्रा में खाते थे। लिखने बैठते तो पास में घी में भुने हुए सेर भर आलू और तीन सेर दही रखकर उसे खाते जाते और लिखते जाते। यद्यपि यह कोई नियम नहीं था परन्तु बहुधा उन्हें ऐसा करते देखा गया।

स्वभाव की कुछ ऐसी ही अन्य विलक्षण बातों के साथ शर्माजी की कुछ सैद्धान्तिक विलक्षणतायें भी सुनी जाती हैं। सरकार की ओर से मिलनेवाली छात्रवृत्ति को आपने अपने अध्ययन-काल में इसलिए स्वीकार नहीं किया था कि कालेज जाकर विलायती प्रोफेसरों की शिष्यता में न रहना पड़े। अंग्रेजी का उनका अध्ययन निजी था। वेद पढ़ाने के लिए जर्मनी से जब आपका बुलावा

आया तब आपने उत्तर दिया कि मैं अपना ज्ञान अपने गरीब देश को ही देना चाहता हूँ, रुपये के लोभ से बाहर नहीं बेचना चाहता। विश्वविद्यालय के भाषा भवनों के निर्माण के लिए महामना मालवीयजी को अधिक व्यस्त और चिन्तित देखकर आपने उनसे एक बार कहा कि गरीब देश का मँहगा धन आप इस प्रकार क्यों ईंट-गारा में बर्बाद करते हैं?

आपका अध्ययन अगाध था। फ्रेंच, जर्मन, पाली, प्राकृत आदि कई भाषाओं का आपने अच्छा अध्ययन किया था। भारतीय षड्दर्शन मात्र से संतुष्ट न रहकर आपने 'परमार्थ दर्शन' नाम का सप्तम दर्शनशास्त्र लिखा और उसका खण्डन सुनने के लिए काशी के कम्पनीबाग में झण्डा गाड़ कर बैठे कि भारत का कोई भी विद्वान् आकर उन्हें वाद में पराजित करे। यह किंवदंती है कि शर्मा जी इस प्रकार झंडा गाड़े एक मास तक बैठे रहे और पण्डितों से शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त में अपने गुरु श्री गंगाधर शास्त्री के अनुरोध से आप वहाँ से उठे। हिन्दी समाज में भी आपकी अच्छी ख्याति और प्रतिष्ठा थी जिसके फलस्वरूप आप जबलपुर हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी मनोनीत हुए थे। आप पी० एच-डी० आदि परीक्षाओं के प्राश्निक और परीक्षक भी रहा करते थे।

आपके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथ हैं :—

यूरोपीय दर्शन, परमार्थ दर्शन, भारतीय इतिवृत्तम्, मुद्गरदूतम्, प्रियदर्शिप्रशस्तयः (अशोक के पाली लेखों का सटिप्पण संस्करण)। सूर्य शतक और मारुति शतक। इनमें यूरोपीय दर्शन तो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है और अन्तिम दो शतक प्रयाग में प्रकाशित होनेवाली शारदा नामक संस्कृत पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। मुद्गर-दूतम् भी काशी से प्रकाशित सुप्रभातम् नामक संस्कृत के मासिक पत्र में छपा था। कालिदास के मेघदूत की पैरोडी—के रूप में लिखा गया मुद्गर-दूत हास्य-रस की सुन्दर रचना है। आपने इस दावे के साथ कि संस्कृत का कोई भी शब्द ऐसा न होगा जो मेरे कोष में आने से रह जाय। एक वृहत् कोष भी लिखना प्रारंभ किया था किंतु वह पूर्ण न हो सका और आप असमय में ही काल कवलित हो गये।

मुद्गर दूत के कुछ श्लोक

किं मे पुत्रैर्गुणनिधिरयं तात एवैष पुत्रः,
शून्यध्यानैस्तदहमधुना वर्त्तये ब्रह्मचर्यम्।
कश्चिन्मूर्खश्चपल - विधवा - स्नान - पूतोदकेषु,
स्वान्ते कुर्वन्निति समवसत् कामगिर्याश्रमेषु।

शास्त्रज्ञानामपि ननु तनुर्दूषितावस्कराद्यैः,
शुद्धः कः स्याद् गुरुरिति भुवं सभ्रमन् मूर्खदेवः।
वव्रे कञ्चिद् गुरुमथ शकृत्पूय-रक्तादि-शून्यं,
चैत्ये कस्मिँश्चन विनिहितं जीर्ण-पाषाण-खण्डम्।

श्रुत्वा मृत्युं जरठ-विदुषः कस्यचित्काशिकायां,
शिष्यैः पृष्टः कथय भगवन् कारणं तस्य मृत्योः।
पोतैर्द्वीपान्तर - गतिमयं शंसति स्मैष विप्र--
स्तस्माद्यातो यमगृहमसावित्युवाच स्वशिष्यान्।

काले याते पितरमथ च व्याधितं शुश्रुवान् स—
ग्रामं गत्वा झटिति जरठं तं समाच्छिद्य वैद्यात्।
वैद्यो नारायण इति वदन् स्थापयित्वापगाया—
मेकादश्यामजलरसनं मारयामास तर्षात्।

एकं ब्रह्म स्फुटमिह मृषा पुण्यपापादि-भेदः,
स्रङ् मुद्राद्यैः स्पृशति न यमो धर्म लिंगैरुपेतम्।
भार्या - पुत्रादिक-परिहृतिः स्वर्ग-सोपान-धारा,
जल्पन्नित्थं जगति विदधे पातकस्य प्रचारम्।

१३—

डाक्टर गङ्गानाथ झा

सितम्बर १८७२ ई० — से — नवम्बर १९४१ ई०

राजर्षि जनक और योगींद्र याज्ञवल्क्य के पावन-प्रदेश में जन्म ग्रहण कर जिन्होंने अध्ययन और विद्या-वितरण के लिए विद्यातीर्थ वाराणसी और धर्मतीर्थ प्रयाग को केन्द्र बनाया तथा अन्त में अपने नाम की सार्थकता प्रदर्शित करते हुए तीर्थराज प्रयाग की पावन गंगा में अपना पार्थिव शरीर अर्पित कर अपने को अमर बनाया; उन दिवंगत गंगानाथ झा की सौम्य-मूर्त्ति का स्मरण करते ही प्रत्येक विद्या-व्यसनी का मस्तक श्रद्धा से आनत हो ही जाता है। उनमें प्राचीन-परिपाटी के संस्कृत-पण्डितों के तुल्य अगाध-पाण्डित्य और गाम्भीर्य तथा पाश्चात्य-पद्धति के अनुकूल शिक्षित विद्वानों के सदृश दृष्टिकोण की

व्यापकता और उदारता का अद्भुत सामंजस्य था। उन्होंने साहित्य, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विभिन्न अंगों का सम्यक् अध्ययन किया था जिनके कारण विद्वत्समाज में उनका बड़ा सम्मान था। उन्हें हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी से एक बार तथा प्रयाग विश्वविद्यालय से दो बार डाक्टर की सम्मानित उपाधि प्रदान की गयी थी। यह उपाधि उनको ख्याति और पद की महत्ता की दृष्टि से नहीं किंतु विशुद्ध विद्वत्ता के कारण मिली थी। उनके ज्ञान का मान भारत में ही नहीं विदेशों में भी व्यापक रूप से था। यूरपीय विद्वत्समाज में उनकी प्रतिष्ठा उनके किये हुए क्लिष्टतम संस्कृत ग्रन्थों के अँग्रेजी अनुवाद के कारण हुई। साहित्य शास्त्र के प्रसिद्ध-ग्रंथ काव्य-प्रकाश का अनुवाद वह भी अँग्रेजी में सर्व प्रथम उन्होंने ही किया। उनके द्वारा अँग्रेजी में अनुवाद किये गये संस्कृत ग्रंथों की संख्या लगभग २० है। हिन्दू ला नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उन्होंने अँग्रेजी में लिखा जो बहुत उत्तम माना गया। इन सबके अतिरिक्त उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन भी किया और लगभग १० मौलिक ग्रन्थ अँग्रेजी में लिखे। संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी भाषा में वे अबाधगति से लिखते थे। हिन्दी में उनके लिखे ग्रंथों में 'कविरहस्य' जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ तथा "वैशेषिक दर्पण" उल्लेखनीय हैं।

पण्डितजी का स्वभाव अत्यन्त सरल और उदार था। उनकी रहन-सहन और वेष-भूषा आजीवन बहुत सादी रही। आडम्बर लेश मात्र न था। जाति और वर्ण का पक्षपात तथा विद्वेष उनमें बिलकुल नहीं था। वह अपने शिष्यों के कल्याण के लिए सदा तत्पर रहे। किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया। उनके स्निग्ध शिष्य उनको अत्यन्त प्रिय थे। प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० बाबूराम सक्सेना ने उनके निधन पर जो संस्मरण लिखा है, उससे उक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है। वे अपने अर्जित द्रव्य से बहुत कुछ दान भी दिया करते थे, जिसमें अधिकांश निर्धन छात्रों की सहायता में व्यय होता था पर गुप्त रूप से। पण्डितजी की सहायता और सौजन्य के ऋणी अनेक छात्र आज अच्छे सम्मानित पदों पर जहाँ तहाँ प्रतिष्ठित हैं।

पण्डितजी स्वभावतः ईश्वरवादी और धर्माचरणशील व्यक्ति थे। भगवती दुर्गा की उपासना वे नित्य किया करते थे। उनके पूजापाठ में आडम्बर नहीं होता था। उनका खान-पान नियमित और संयमित था। इस प्रकार प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए भी वे आधुनिक समाज और वातावरण के अनुकूल आचार-विचार के समर्थक और सुधारक थे। प्रसिद्ध विद्वान् डा० भगवान्दास के ज्येष्ठ तनय, मद्रास के आधुनिक राज्यपाल श्रीयुत श्रीप्रकाशजी जब अध्ययन के लिए विलायत गये तब उनकी जाति के अग्रवालों ने उनका जातीय बहिष्कार किया जिस पर श्रीप्रकाशजी ने उन लोगों पर मान हानि का मुकदमा चलाया। अब तो समय बहुत परिवर्तित हो गया है और समुद्र यात्रा शास्त्रनिषिद्ध है, इसका विवाद शांत हो चुका है। विलायत जाना-आना घर आँगन की बात हो गयी है; किन्तु आज से ३०-४० वर्ष पूर्व यह विषय विवादास्पद था और प्राचीनता का पोषक अथवा रूढ़िवादी पण्डित समाज एक स्वर से समुद्र-यात्रा का विरोधी था। अदालत में मुकदमा आने पर इस विषय में शास्त्रीय व्यवस्था क्या है? इसका भी प्रश्न उठा। पण्डितजी से व्यवस्था माँगी गयी। पण्डितजी ने इसके लिए शास्त्र-समुद्र का मन्थन किया। वेद से लेकर काव्येतिहास तक सभी सुलभ संस्कृत ग्रंथ देख डाले और तब जून १९११ में काशी की अदालत में व्यवस्था देने गये। उन्होंने उस समय ऋग्वेद, सूत्रग्रंथ, पुराण, धर्मशास्त्र तथा प्राचीन काव्यादिकों से उदाहरण दे-देकर यह सिद्ध किया कि समुद्र-यात्रा शास्त्र सम्मत है, असम्मत नहीं।

शिक्षा, सुयश और सम्मान

२४ वर्ष के वय में दरभंगा राज के स्कूल से इंट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण कर पण्डितजी काशी आकर क्वींस कालेज में पढ़ने लगे थे। वे एफ० ए० की परीक्षा में प्रांत भर में सर्वप्रथम पास हुए थे। अनन्तर १८९२ में उन्होंने एम० ए० पास किया और दो वर्ष तक काशी के पण्डितों से संस्कृत का सम्यक् अध्ययन किया। इनके गुरुओं में मैथिल पं० जयदेव मिश्र जो व्याकरण शास्त्र के धुरंधर विद्वान् थे, प्रमुख थे। इनको अध्ययन की धुन थी जिसके लिए सबसे अच्छा

सुयोग इनको १९०८ में मिला, जब ये दरभंगा के सरकारी पुस्तकालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए। जहाँ इन्होंने दो वर्ष तक कार्य किया। अनन्तर इनकी विद्वत्ता की ख्याति के कारण इनकी नियुक्ति म्योर सेंट्रल कालेज इलाहाबाद में संस्कृताध्यापक के पद पर हुई। इस पद पर प्रतिष्ठित रहते हुए पण्डितजी ने संस्कृत ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद कार्य अधिक किया। अनन्तर १९१८ से इनकी नियुक्ति गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस में प्रिंसिपल के पद पर हुई। अब तक यह पद वेनिस, ग्रिफिथ, वैलेण्टाइन आदि विदेशी विद्वानों को ही मिला था। पण्डितजी इसके सर्वप्रथम भारतीय प्रिंसिपल हुए। यह पण्डितजी की योग्यता और ख्याति का ही फल था। इनकी अध्यक्षता के मध्य ही सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में वार्षिक परीक्षा के समय छात्रों द्वारा परीक्षार्थियों की "पिकेटिंग" हुई। छात्रों को परीक्षा देने से रोका गया। सरकार की ओर से उग्र दमन नीति चल रही थी। अंग्रेजी विभाग के अँग्रेज प्रिंसिपल कुछ रोकनेवाले विद्यार्थियों को क्रुद्ध भाव से बेंत द्वारा हटाना चाहते थे। पुलिस साथ थी। परिश्रमी विद्यार्थी खिन्न थे। उनका वर्ष भर का परिश्रम व्यर्थ हुआ जा रहा था। फाटक पर कोलाहल मचा हुआ था, विद्यार्थी घसीटे जा रहे थे। पंडितजी ने उस समय बड़ी शांति से काम लिया। उन्होंने दमन को अनुपयुक्त और अवसर के सर्वथा प्रतिकूल बताया। समझा-बुझाकर रोकनेवालों को रोका और फिर जो विद्यार्थी देर-सवेर परीक्षा-भवन में पहुँच गये उन्हें परीक्षा देने दी और जो जितना भी लिख सका था उतने ही के आधार पर उसका परीक्षाफल तैयार कराया और अधिकांश विद्यार्थियों को उत्तीर्ण घोषित किया। इससे पंडितजी की शांतिप्रियता के साथ ही उनका विवेक-धर्म भी समझ में आता है।

उत्तर-प्रदेश के वर्त्तमान विश्वविद्यालयों में शिक्षा की उत्तमता की दृष्टि से प्रयाग विश्वविद्यालय का स्थान ऊँचा समझा जाता रहा है। इसके कुलपति का पद सर्वोच्च शिक्षित व्यक्ति ही पाते आये हैं। पण्डितजी इस अत्यन्त सम्मानित पद के लिए सन् १९२३ में चुने गये और लगातार ६ वर्ष तक अत्यन्त योग्यता और लोक-प्रियता के साथ कार्य करते रहे। इस विश्वविद्यालय की प्रबंध समिति के भी आप १९०६ से १९२२ तक सदस्य रहे। इस प्रकार

प्रयाग विश्वविद्यालय से इनका कार्य-क्षेत्र संवंधी सर्वाधिक संवंध रहा। इनके अनन्तर भी विश्वविख्यात विद्वान् डा० अमरनाथ झा इनके पुत्र ही इस पद पर प्रतिष्ठित हुए जिसे हम 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार इन्हीं से सम्वन्धित समझते हैं।

अंग्रेजी सरकार की ओर से सन् १९१० में इन्हें महामहोपाध्याय की पदवी मिली थी और वे कौंसिल ऑफ स्टेट के १९२० से १९२३ तक सदस्य रहे। रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ लन्दन के जो विश्व के मान्य विद्वानों की सभा है आप सदस्य थे। इन सवके अतिरिक्त समय-समय पर आमन्त्रित होकर आप अनेक विश्वविद्यालयों के व्याख्याता और भारतीय उच्च परीक्षाओं के परीक्षक भी होते रहे। निखिल भारतवर्षीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के, जो काशी में हुआ था आप सभापति भी चुने गये थे।

पण्डितजी का जन्म २५ सितम्वर १८७२ को दरभंगा में हुआ था। इनके पिता पं० तीर्थनाथ झा थे और माता श्री रामकाशी देवी जो महाराजा दरभंगा की लड़की थीं। इस प्रकार जन्मना समृद्ध और यशसा प्रसिद्ध पंडित गंगानाथ झा भारत की उच्चतम विभूतियों में से एक थे। उनकी मृत्यु प्रयाग में १० नवम्वर १९४१ को हुई।

हम सब भारतीयों को इस वात पर संतोष करना चाहिए कि अब अपने देश के विद्वानों और महापुरुषों के सम्मान करने का भाव हम में आ रहा है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट का स्थापन है। इस संस्था की स्थापना इनके सुयोग्य शिष्यों और प्रशंसकों की प्रेरणा से हुई है। इस संस्था के भवन का शिलान्यास प्रयाग विश्वविद्यालय के सन्निकट अल्फ्रेड पार्क के उत्तर पूर्ववर्त्ती कोण पर तत्कालीन गवर्नर मारिस हैलेट ने देश के वहुसम्मानित व्यक्तियों की उपस्थिति में १३ फरवरी सन् १९४५ को ११॥ वजे दिन में किया था। इस अवसर पर हैलेट महोदय ने पंडितजी की भूरि प्रशंसा के साथ उनको विश्वविख्यात विद्वान् कहा था। इस संस्था का उद्देश्य ज्ञान की गवेषणा है। इसके द्वारा एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन होता है जिसमें अनुसंधान सम्वन्धी उत्कृष्ट कोटि के गम्भीर लेख ही प्रकाशित होते हैं।

१८- श्री शालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य

जनवरी १८८५ ई० से — अगस्त १९४० ई०

उत्तर-प्रदेश की वर्त्तमान राजधानी लखनऊ में विधान सभा भवन से स्टेशन की ओर चलने पर वर्लिङ्गटन होटल से आगे बढ़ते ही बाईं ओर बने हुए भवनों पर दृष्टिपात करनेवाले की दृष्टि सहसा रुक जाती है और पढ़ा-लिखा दर्शक सुन्दर और गोलाई लिए हुए बड़े-बड़े अक्षरों में पढ़ता है "मृत्युञ्जय भवन"। यह भवन भारत के एक ऐसे मनीषी विद्वान् का बनवाया हुआ है जिसने अपने जीवनकाल में आशुतोष भगवान् शंकर की विमल-भक्ति से चित्त को, अतुल शब्द शास्त्रज्ञान से वाणी को और उत्कृष्ट कोटि के वैद्यक शास्त्र के ज्ञान से शरीर को निर्मल बनाया था। यही थे शालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य। शास्त्री जी भारत में अपने समय के सर्वप्रमुख संस्कृत विद्वान् श्रीशिवकुमार शास्त्रीजी के कृपा-पात्र शिष्यों में से थे। इन्होंने श्रीशिवकुमारजी से व्याकरण की, महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री से साहित्य-शास्त्र की और श्रीकाशीनाथ शास्त्री से वेदान्त दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। इनके साथ ही चन्द्रनगर निवासी भट्टाचार्य कविराज श्रीहरिदासजी से सांगोपांग आयुर्वेद का भी इन्होंने सम्यक् अध्ययन किया था। परीक्षाओं में इन्होंने पंजाब की शास्त्रि-परीक्षा तथा गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस की साहित्याचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इनकी प्रखर प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर दरभंगानरेश ने इनको 'विद्याभूषण' की, शारदा पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने 'विद्यावारिधि' की तथा शृंगेरी मठाधीश जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था।

शास्त्री जी के पूर्व-पुरुष योगेश्वर कृष्ण की लीलाभूमि मथुरानगरी के रहनेवाले थे; जहाँ उन्होंने अपने पाण्डित्य के आधार पर तत्कालीन राजाओं की प्रियपात्रता प्राप्त की थी और इस प्रकार बड़े आनन्द से अपना जीवन

व्यतीत किया था। अनन्तर यवनों के उपद्रव प्रारम्भ होने पर वे बरेली में आकर रहने लगे। इनमें श्रीनन्दकिशोर श्रीआशाराम और श्रीलक्ष्मीनारायणजी उच्च-कोटि के संस्कृत विद्वान् हुए हैं जिन्होंने दूर-दूर के सहस्रों छात्रों को विद्यादान दिया और संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी तथा नदिया शान्तिपुर आदि स्थानों में जाकर शास्त्रार्थ में विजय भी प्राप्त की। ऐसे विश्रुत वंश में विक्रम सम्वत् १९४२ की माघ शुक्ल त्रयोदशी को चरितनायक ने जन्म ग्रहण किया था। इनके पिता ज्योतिष शास्त्र के तथा पितामह वैद्यक शास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और इनका गोत्र वशिष्ठ तथा कुलोपाधि त्रिवेदी थी।

थोड़ी अवस्था में व्याकरण, साहित्य और दर्शनादि शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर शास्त्रीजी ने डी० ए० वी० कालेज लाहौर में अध्यापक का पद प्राप्त किया। वहाँ कुछ समय तक बड़ी योग्यता और दक्षता के साथ कार्य कर शास्त्रीजी ज्वालापुर महाविद्यालय चले आये। यहाँ के सर्वप्रथम प्रथमाध्यापक यही थे किन्तु बहुत थोड़े समय तक यहाँ रहकर शास्त्रीजी ने इस नौकरी को छोड़ दिया और गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापक का पद ग्रहण किया। इस संस्था में भी केवल ६ वर्ष तक ही शास्त्रीजी ने कार्य किया। इसके अनन्तर आपने ऋषि-कुल हरद्वार में प्रधानाध्यापक के पद को स्वीकार किया। प्रायः ३ वर्ष के अनन्तर इनकी मनस्विता ने सेवा-वृत्ति से विद्रोह कर दिया और इन्होंने पराधीनता को आत्मोन्नति में बाधक समझते हुए तथा स्वल्प वेतन से असन्तुष्ट होकर इस पद से भी त्याग-पत्र दे दिया और सं० १९७२ में वंश परम्परा प्राप्त व्यवसाय ग्रहण किया।

शास्त्रीजी ने अपना सर्वप्रथम औषधालय अपनी जन्मभूमि बरेली में "मृत्युञ्जय औषधालय" के नाम से खोला। अनन्तर कुछ दिनों के बाद कार्य-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से इन्होंने लखनऊ में भी इसकी शाखा का उद्घाटन किया और कई बड़े डाक्टरों द्वारा असाध्य कहकर छोड़ दिये गये रोगियों को रोगमुक्त किया। इससे इनकी ख्याति बहुत शीघ्र हो गयी और दूर-दूर के रोगी इनकी चिकित्सा से लाभान्वित होने के लिए इनके पास आने लगे। शास्त्री जी की वैद्यक चल निकली। डाक्टरों ने भी लोहा माना। अवध के

आस-पास के बड़े जमींदार और राजे इनकी चिकित्सा के कायल हुए और सूरजपुर रियासत के अधिपति ने इन्हें अपना 'राजवैद्य' नियुक्त किया। इस प्रकार शास्त्रीजी अपने समय के अवध के सर्वश्रेष्ठ वैद्य समझे जाने लगे और इन्होंने विपुल यश और धन दोनों ही अर्जित किया। इण्डियन मेडिसिन बोर्ड का सदस्य बनाकर सरकार ने भी इनका सम्मान बढ़ाया। अपने जीवन के ऐसे ही स्वर्णयुग में शास्त्रीजी ने बरेली में "वशिष्ठाश्रम" तथा लखनऊ में उपर्युक्त 'मृत्युंजय भवन' का निर्माण कराया।

ग्रंथ-निर्माण

शास्त्रीजी उन विरले संस्कृत विद्वानों में एक थे जिनकी लेखनी हिंदी-संस्कृत दोनों में ही समान प्रौढ़ता के साथ चलती है। इनकी भाषा बहुत मनोरम, सरस और इनकी मनस्विता के अनुरूप ओजस्विनी होती थी। भागीरथी के विमल प्रवाह के समान ये अबाध गति से संस्कृत-श्लोक रचना में निपुण थे। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी अतः ये शास्त्रीय तत्त्वों का बड़ा मार्मिक विवेचन करते थे और शीघ्र ही युक्तियों और उक्तियों की यथार्थता और अयथार्थता समझकर उसका खण्डन-मण्डन कर दिया करते थे। बहुश्रुतता, मर्मज्ञता, निष्पक्षता, निर्मत्सरता और यथार्थ गुण-ग्राहिता आदि समालोचक के जो गुण हैं वे शास्त्रीजी में प्रचुर रूप से विद्यमान थे। अतः उनकी आलोचनाएँ बहुत सारयुक्त समझी जाती थीं। वे निर्भीक आलोचक थे। इसीलिए उन्होंने संस्कृत-साहित्य के प्रख्यात ग्रंथ साहित्य दर्पण पर लिखी गयी रामचरण तर्क-वागीश की संस्कृत टीका की स्थान-स्थान पर बड़ी युक्ति-युक्त आलोचना की और साथ ही इस ग्रंथ पर हिंदी भाषा में विमला नामक टीका लिखी। यह टीका मूलगत विषयों का ठीक अभिप्राय जानने के लिए सहृदय समाज में बहुत ही सहायक मानी गयी। इस टीका के प्रकाशन से इनके प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय लोगों को मिला और अनेक विश्वविद्यालयों ने इसे अपनी उच्च परीक्षाओं में पाठ्यरूप से निर्धारित किया। इसका एक ही संस्करण अब तक निकल सका है। शिक्षित समाज इस टीका के साथ साहित्य दर्पण के लिए लालायित है, किन्तु

खेद है, भारत के दुर्भाग्य-वश कोई प्रकाशक ऐसा नहीं है जो इसके प्रकाशन का बीड़ा उठावे। इस टीका की प्रशंसा करते हुए अपने समय के उत्कृष्ट विद्वान् भारतवंद्य महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार शास्त्रीजी ने निम्न विचार प्रकट किये थे--

"अस्यां विनिवेशिता विचारा अति समीचीनाः; युक्तियुक्ताः प्रमाण पुरस्सराश्च, निरूपण शैली च हृदयङ्गमा।"

संस्कृत तथा हिंदी के अनेक महत्त्वपूर्ण सम्मेलनों और वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर लिखे गये अनेक भाषणों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से लिखे गये आपके निम्नलिखित ग्रंथ और निबंध हैं।

(१) अर्वाचीन - साहित्य - विवेचना (२) अलंकार कल्पद्रुमः (३) भारतीय कृषकः (४) के कोऽशाः संस्कृत साहित्ये पूर्त्ति सापेक्षाः कश्च तदुपायः (५) सुरभारती संदेशः (६) महाकविर्माघः (७) आयुर्वेद-महत्त्वम् (८) चरक संहिता भविष्यम् (अपूर्ण)।

हिंदी भाषा में लिखी गयी "रायायण में राजनीति" नामक इनकी पुस्तक को पढ़कर हिंदी के युगांतरकारी आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भूरि प्रशंसा के साथ इन्हें समालोचक शिरोरत्न कहा था।

शास्त्रीजी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सच्चे पक्षपाती थे। उन्होंने अवसर पाकर पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और सभ्यता की बड़ी कटु किंतु यथार्थ आलोचना की है। आत्माभिमान शास्त्रीजी का विशेष गुण था। वे भारत की भूमि और भारती की प्रशंसा करते अघाते नहीं थे। गुण-गण के बल पर आत्माभिमान को उन्नत बनाने की दृष्टि से उन्होंने अपने जीवन का एक-एक क्षण सार्थक किया और इस प्रकार औषध-निर्माण, ग्रंथ-निर्माण तथा समाज-निर्माण का प्रशस्त कार्य किया। सिद्धांतों के परिपालन में उनका स्वभाव कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर था। प्रगाढ़ पांडित्य होते हुए भी औद्धत्य को उनके स्वभाव में स्थान नहीं मिला था। साहित्य दर्पण की टीका के अन्त में दिया हुआ निम्न श्लोक उनके आत्म-निदर्शन का आदर्श है।

दुर्मोषो दोष सङ्गः क्षणमपि न दृढ़ा मानुषी शेमुषीयम् ।
गम्भीराम्भोधि तुल्यं दुरधिगममहो ! शास्त्रतत्वञ्च किञ्चित् ।
श्रद्धा वद्धाञ्जलिस्तद् गुण-गण-निकषान् प्रार्थये प्रार्थीयान् ।
जोषं - जोषं विदोषं कलयितुमखिलं जोषमेवानतोऽहम् ।

विद्वत्समाज में शास्त्रीजी का बड़ा आदर था जिसके फलस्वरूप इनको कई विद्वत् परिषद् एवं वैद्य सम्मेलन का सभापतित्व करने का अवसर प्राप्त हुआ था। सन् १९३१ में काशी में आयोजित अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर उसके अंगभूत कवि सम्मेलन में सभापति पद से जो पद्यमय भाषण आपने दिया था वह बड़ा ही सरस और सारगर्भित था। संस्कृत और हिंदी के सामयिक पत्रों में इसकी बड़ी सराहना हुई थी। इसमें काशीपुरी का और कवि-भारती का माहात्म्य बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित हुआ है। साथ ही प्रचलित अँग्रेजी शिक्षा-पद्धति पर इतना सरस और तथ्यगर्भित व्यंग किया गया है कि उसे पढ़कर कोई भी सहृदय आनंदमग्न हुए बिना नहीं रह सकता। इसी अवसर पर पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना करते हुए 'पाश्चात्य-सभ्यता' शीर्षक एक और भाषण भी आपने पद्य में ही लिखा था। ये दोनों ही भाषण इनकी विद्वत्तापूर्ण विचारशैली और इनके सरस स्वभाव के उत्तम निदर्शन हैं। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक यहाँ लिखे जाते हैं :—

काशी-प्रशंसा

सिद्धानां सदनं काशी, विबुधानां निकेतनम् ।
भवनं विभवानाञ्च, तीर्थम् अध्यात्मसम्पदाम् ।
देव-दुर्लभ-दृश्या या तीर्थराजेऽपि न स्फुटा ।
साऽत्र क्रीडति निर्द्वंद्वं, गेहे गेहे सरस्वती ।

पाश्चात्य-शिक्षा-दूषणानि

चातुर्यं चाकरीमात्रे, कौशलं बूट पालिशे ।
भाले लिखति चैतावत्, शिक्षा पाश्चात्य चालिता ।

बी० ए० पर्यन्त शिक्षायां सहस्राणां तु विंशतिः ।
व्ययीभवति चित्तं तु केवलं दास - वृत्तये ।
यदि स्यात् मूसल-स्थूलं भाग्यं प्रीताश्च देवताः ।
तदा "बाबू" समाप्नोति वेतनं ख-शराङ्कितम् ।
विक्रीयतु पितुर्गेहं बन्धकीकृत्य भूषणम् ।
मातुर्वापि स्त्रियावापि बी० ए० पर्यंतमागतः ।
कराल - जठर - ज्वाला - कवलीकृतमानसः ।
भारताकृतिरांग्लोऽसौ विश्वं पश्यति शून्यवत् ।
एम० ए० पर्यन्तमुत्तीर्ण इतिहासे प्रतिष्ठितः ।
छात्रो न वक्तुं शक्नोति, भीष्मः कस्य सुतोऽभवत् ।
आङ्गलानां तु को राजा, कतिवारं व्यमूत्रयत् ।
इति सर्वं विजानाति, न जानाति स्वकं गृहम् ।

अंतकाल

सन् १९३५ में शास्त्रीजी के वामांग में पक्षाघात नाम से प्रसिद्ध भयानक व्रण हुआ जिसे शास्त्रीजी ने अपनी ही चिकित्सा से अच्छा कर लिया ; किन्तु सन् १९४० के प्रारंभ से ही शास्त्रीजी का स्वास्थ्य शिथिल रहने लगा जिससे शास्त्रिवर का शरीर दिनों-दिन क्षीण होता गया और ३१ अगस्त १९४० को भगवन्नामोच्चारण करते हुए उन्होंने इस संसार से सदा के लिए विदा ले ली। इनकी मृत्यु का संवाद पाकर सारा विद्वन्समाज शोकाकुल हो उठा। अनेक विद्वत्परिषदों और साहित्यिक संस्थाओं में आपके गुणगणों का वर्णन किया गया और शोक प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

शास्त्रीजी के सुयोग्य तनयों में ज्येष्ठ, श्री श्रीकान्त शास्त्री, साहित्य और आयुर्वेदाचार्य अपने पूज्य पिता के ही पथ पर चलते हुए लखनऊ के उपर्युक्त अपने भवन में प्रतिष्ठा और यश के साथ वैद्यक के व्यवसाय में संलग्न हैं।

१५-

डाक्टर सर रामकृष्ण भाण्डारकर

सन १८३७ई० - से - १९०८ ।

किसी भी देश का गौरव और सम्मान उस देश के विद्वानों और उनके द्वारा रचित साहित्य के द्वारा ही होता है। डाक्टर सर रामकृष्ण भाण्डारकर भारत के उन उच्चकोटि के विद्वानों में से एक थे, जिनसे विदेशों में भारत को सुयश और सुप्रतिष्ठा प्राप्त हुई। आज से लगभग ७०-८० वर्ष पूर्व पुरातत्त्व सम्बन्धी बातों की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान बहुत कम था। पाली, मागधी आदि प्राकृत भाषाओं के अध्येता और अध्यापक दुर्लभ होते जा रहे थे। इन भाषाओं में ग्रंथ-रचना का द्वार तो बन्द ही हो चुका था। उनके अक्षर बाँचनेवाले भी कठिनता से मिलते थे। ऐसे समय में डाक्टर भाण्डारकर ने भारत की प्राकृत भाषाओं और ब्राह्मी, खरोष्टी आदि लिपियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर इतिहास सम्बंधी जो गवेषणाएँ कीं, उनके आधार पर अनेक लुप्तप्राय इतिहास के तत्त्व प्रकाश में आये और प्रामाणिक इतिहास-ज्ञान में प्रगति उत्पन्न हुई। डा० भाण्डारकर को इस विषय से किस प्रकार प्रेम हुआ इसका भी रोचक इतिहास है। सन् १८७० में माणिक जी आदर जी नामक एक पारसी डाक्टर को भूगर्भस्थित एक ताम्र-पट्ट प्राप्त हुआ जिस पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ने के लिए उन्होंने उसको डा० भाण्डारकर जी को दिया। डा० भाण्डारकर उस समय उसे न पढ़ सके। उनको उस समय तक प्राचीन लिपियों का ज्ञान न था। किंतु इसी समय से उनमें इन लिपियों की जानकारी के लिए अनुराग उत्पन्न हुआ और उन्होंने प्रिंसेप, थामस तथा अन्य अनेक विदेशी विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थों को एकत्र कर इनका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और कुछ ही दिनों में इनमें अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली। थोड़े ही दिनों में डाक्टर भाण्डारकर का नाम प्राच्य-विद्या-विशारदों में गिना जाने लगा और १८७४ ई० में लन्दन में प्राच्य-विद्या के विद्वानों का जो सम्मेलन हुआ उसमें

आप सादर आमन्त्रित किये गये। कुछ कौटुम्बिक असुविधाओं के कारण यद्यपि डाक्टर महोदय उस सम्मेलन में नहीं जा सके; किंतु उसके लिए आपने जो निवन्ध लिखकर भेजा था, उसकी वहाँ के विद्वानों ने वहुत प्रशंसा की। आगे चलकर सन् १८७६ में जव प्रोफेसर विल्सन के स्मारक-स्वरूप प्राचीन भाषाओं के प्रचार सम्वन्धी व्याख्यानों की व्यवस्था की गयी तो इस विषय के इने-गिने देशी और विदेशी विद्वानों में डाक्टर भाण्डारकर को प्रमुख माना गया और वही इस विषय के व्याख्यानदाता नियुक्त हुए। उसी समय भारतीय सरकार का ध्यान भारत के हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथों की खोज और प्रकाशन की ओर भी था जिसके लिए डा० महोदय ही सबसे उपयुक्त व्यक्ति समझे गये और उनको यह गुरुतर कार्य-भार सौंपा गया। डा० महोदय ने अनेक विघ्न-वाधाओं के आने पर भी बड़े अध्यवसाय के साथ इन ग्रंथों की गवेषणा की। इस सम्वन्ध की अपनी जो रिपोर्ट उन्होंने प्रकाशित करायी वह ५ वड़ी-वड़ी जिल्दों में पूर्ण हुई है। डा० भाण्डारकर के इन कामों से इतिहास लिखने वालों का मार्ग प्रशस्त हो गया।

सन् १८८६ में वियेना में प्राच्य-भाषा वेत्ताओं का जो सम्मेलन हुआ उसमें डाक्टर महोदय पुनः आमन्त्रित किये गये। इस वार उन्होंने वहाँ जाकर विदेशी विद्वानों से घनिष्ठ सम्पर्क प्राप्त किया और उनके अध्ययन और अन्वेषण की शैली को सूक्ष्म रीति से जाना और पहिचाना। इस विलायत यात्रा के बाद उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर भारतीय सरकार ने उनको सी० आई० ई० की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया था। डा० भाण्डारकर ने वाम्वे गजेटियर के लिए दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास लिखा है जो अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। उन्होंने (Sacred Books of the East) प्राच्य-पवित्र-ग्रंथ-माला के लिए वायुपुराण का अंग्रेजी अनुवाद भी लिखना प्रारम्भ किया था; किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया। इन सबके अतिरिक्त उनके अनेक विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण निवन्ध हैं जो उनकी कीर्ति को चिरकाल तक अमर बनाये रक्खेंगे! सन् १८७६ में उन्होंने मालती-माधव नामक भवभूति के नाटक पर उत्तम टीका भी लिखी थी। सरलता-पूर्वक संस्कृत भाषा का समुचित

और व्यवहार-योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्होंने अँग्रेजी पढ़नेवालों को दृष्टि में रखकर अँग्रेजी भाषा के माध्यम से फर्स्ट और सेकेण्ड बुक आफ संस्कृत नाम की जो दो पुस्तकें लिखी हैं वे अब भी अत्यन्त उपादेय और उत्तम मानी जाती हैं। एक समय था जब हाई स्कूल का कोई भी संस्कृत पढ़नेवाला छात्र इन पुस्तकों का अध्ययन किये बिना नहीं रहता था। अपने अनुसंधानों और गवेषणाओं के प्रसार और प्रकाशन के निमित्त डा० महोदय ने भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट नामक जिस संस्था की स्थापना की है उसका भव्य भवन पूना के प्रमुख दर्शनीय स्थानों में है। इसकी दिनोदिन उन्नति हो रही है और वह समय दूर नहीं होगा जबकि कुछ मान्य विषयों में सम्मानित पदवी प्राप्त करने के लिए यहाँ रहकर अध्ययन करने को बाध्य किया जायगा। इस संस्था में संगृहीत पुस्तकों का भाण्डार अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमें संग्रहीत ग्रंथ-राशि विपुल और अतुल है।

डाक्टर भाण्डारकर का जन्म अत्यन्त साधारण परिवार में हुआ था। उनके पिता स्वल्प वेतन भोगी क्लर्क थे। उनके पास इतना पैसा न था कि वह अपने होनहार बेटे को अँग्रेजी की शिक्षा देने के लिए किसी शहर में भेजते। संयोगवश उनकी बदली रत्नागिरि को हुई। यहाँ के अँग्रेजी स्कूल में रामकृष्ण ने ६ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। अनन्तर हठकर वे १८५३ की जनवरी में १५ वर्ष की अवस्था में बम्बई के एलिफिंस्टन कालेज में पढ़ने गये और एक वर्ष के अनन्तर सर्वाधिक अंक प्राप्त कर हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। डाक्टर भाण्डारकर ने अपनी प्रतिभा, परिश्रम तथा विनय और शील से उस समय के कालेज के प्रोफेसर प्रसिद्ध स्वर्गीय नेता श्री दादाभाई नौरोजी आदि के प्रेम को सहज ही प्राप्त कर लिया और अध्ययन में दिनोंदिन उत्कर्ष प्राप्त करते हुए एम० ए० की सर्वोच्च परीक्षा ससम्मान पास की। इसके अनन्तर वे उसी संस्था में प्रोफेसर हुए, पुनः हैदराबाद सिंध के हाई स्कूल के हेडमास्टर हुए। १८७६ में डा० कीलहार्न के पद-त्याग करने पर वे डेकेन कालेज बम्बई में स्थायी प्रोफेसर हो गये। पेंशन के समय तक उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। १९०१ में आप बम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी चुने गये थे।

डा० भाण्डारकर अपने सहजशील, सौजन्य और सच्चरित्रता के कारण अपने शिष्यों, सुहृदों और शिक्षकों के द्वारा सदा सम्मानित होते रहे। उन्होंने जो कुछ गौरव प्राप्त किया वह सब अपने अध्यवसाय और पौरुष के बल पर ही। वे जिस कार्य को अपनाते थे उसमें आनेवाली बाधाओं का बिलकुल ही ध्यान न कर तत्परता और तल्लीनता के साथ संलग्न हो जाते थे। वे आत्माभिमानी होकर भी अहं से सदा दूर रहे। शिष्यों को ज्ञानदान के लिए उनका द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। धन से उनको स्पृहा न थी। स्वाध्याय और संयम ये दो उनके जीवन के मूल मंत्र थे। उनकी-सी निष्ठा और अध्यवसाय के लोग कम उत्पन्न होते हैं। वे जिस बात को श्रेयस्कर समझते थे उसके करने में समाज और परिवार का भय नहीं मानते थे। उन्होंने अपनी विधवा कन्या का पुनर्विवाह कर अपने दृढ़ साहस और विवेक का परिचय दिया। उनके सुचरित्र का विद्वानों और विद्यार्थियों को अनुकरण करना चाहिए।

१६-

फ्रेडरिक मैक्समूलर

(दि॰ सन् १८२३ — से — अक्तूबर १९००ई॰)

योरपीय देशों में संस्कृत भाषा के प्रति अनुराग और आकर्षण बढ़ने पर जिन अनेक विद्याव्यसनियों ने सपरिश्रम संस्कृत सीखी और उसके सम्बन्ध का उल्लेखनीय ग्रंथ आदि लिखा अथवा सम्पादित किया उनमें मैक्समूलर सर्वप्रमुख हैं। इनके समान अल्पवय से ही अत्यधिक आस्था और अध्यवसाय के साथ सुरभारती संस्कृत का सम्यक् अध्ययन, योरप के अन्य अनेक संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वानों में से किसी ने भी नहीं किया। जन्म और जाति से प्राप्त भोजन और रहन-सहन सम्बन्धी कुछ तुच्छ बातों को यदि छोड़ दिया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इन्होंने उत्तम भारतीय की भाँति ही शुचिता, सच्चरित्रता और सर्वोपरि ब्रह्मचर्य-पालन के साथ संस्कृत का अध्ययन किया था। अधिकांश संस्कृत शिक्षार्थियों के समान इनका भी शैशव और उसके उत्तर का अध्ययन-काल अनेक अभावों के बीच कठोर परिश्रम के साथ अध्ययन करने में व्यतीत हुआ। संस्कृत भाषा के प्रति इनका सहज अनुराग था; क्योंकि पाठशालीय जीवन समाप्त कर लेने पर जब उच्च शिक्षा और विशेष विषय के अध्ययन का प्रश्न इनके समक्ष आया तब इन्होंने अनेक मित्रों के परामर्श को तथा अन्य उपयोगी विषयों के अध्ययन द्वारा सुलभ सुखमय भविष्य-जीवन का मोह त्यागकर संस्कृत का ही विशेष अध्ययन करने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी माता को पत्र लिखकर यह बात स्पष्ट की है—

I cannot give up Sanskrit though it holds out no prospect for me. अर्थात् यद्यपि संस्कृत के अध्ययन में मुझे कोई उज्ज्वल भविष्य दृष्टिगोचर नहीं होता; किंतु मैं इसे छोड़ नहीं सकता।

शिक्षा-शास्त्र के सिद्धांत के अनुकूल बालक के स्वभाव और रुचि के अनुसार जो अध्ययन का विषय चुना जाता है उसमें उसे अन्य विषयों की अपेक्षा

बहुत अधिक सफलता मिलती है। मैक्समूलर का संस्कृत विषय का अध्ययन और उसी के आधार पर उनकी विश्वव्यापिनी कीर्ति इस बात का प्रत्यक्ष निदर्शन है। विदेश में जन्म ग्रहणकर भी जिसने भारत की सुरभारती का इतने ममत्व और अनुराग के साथ अध्ययन किया और भारत के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ ऋग्वेद का प्रामाणिक संस्करण सर्वप्रथम प्रकाशित किया उस कर्मठ विद्वान् के विषय में अब कुछ घटना क्रम के अनुसार लिखा जाता है।

फ्रेडरिक मैक्समूलर का जन्म जर्मनी के डेशो नामक स्थान में ६ दिसम्बर, सन् १८२३ को हुआ था। इनके पिता साधारण कवि और वहाँ के ड्यूक के पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। इसके अतिरिक्त वे एक पाठशाला के अध्यापक भी थे। इस प्रकार उनका जीवन साधारण गृहस्थ का जीवन था, जिसमें विलासिता और अनावश्यक व्यय के लिए अवकाश न था। इनकी माता स्थानीय प्रधान-मन्त्री की ज्येष्ठ कन्या थीं। उनका कद छोटा था किंतु वह थीं अत्यन्त रूपवती। उनकी वाणी में माधुर्य और कार्य करने में चातुर्य के साथ उनमें अद्भुत स्फूर्ति और उत्साह था। मैक्समूलर के पिता का देहांत ३३ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, जिसके अनन्तर कुछ दिनों के लिए इनकी माता अपने पिता के घर जाकर रहीं। मैक्समूलर जिस मकान में रहते थे उसके बगल में ही एक संगीतज्ञ रहता था, जिसने इनकी प्रतिभा देखकर इन्हें संगीत की शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी। इनका यह संगीत-प्रेम जीवन भर बना रहा और ये कुशल 'पियानो' वादक भी हुए। जब यह ६ वर्ष के थे तब स्थानीय जिमनेशियम अर्थात् हाई स्कूल में इनका नाम लिखाया गया जहाँ ये बारह वर्ष की अवस्था तक अध्ययन करते रहे। यद्यपि इस समय इनकी कोई विशेषता, जिनके कारण ये इतने विख्यात विद्वान् हुए, परिलक्षित नहीं हुई तथापि इनके उत्साह, चातुर्य, प्रेम और औदार्य के कारण इनके सब साथी इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। ६ वर्ष के ही वय से इन्होंने कुछ कविता लिखना भी प्रारम्भ किया था। जिमनेशियम स्कूल से निकलकर ये लिपजिग के प्रसिद्ध निकोलाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। यहाँ ये ५ वर्ष तक प्रधानरूप से लैटिन का अध्ययन करते रहे और इतने ही समय में इस भाषा में इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि स्कूल छोड़ते समय ये भली प्रकार

लैटिन भाषा में वार्तालाप करते थे। इस समय का इनका पाठशालीय जीवन बड़ा कष्टमय था। इनके पास समुचित वस्त्र न थे। भोजन भी पुष्टिकर नहीं मिल पाता था, किंतु इन सबकी ओर बिलकुल ध्यान न देकर ये सपरिश्रम अध्ययन में लगे रहते थे। परिणाम यह हुआ कि इन्हें निरंतर शिरोवेदना होने लगी। इस समय इन्होंने अपनी माता को पत्र लिखकर अपनी दिनचर्या इस प्रकार व्यक्त की है :—

मैं ५ बजे या उससे भी पूर्व उठ जाता हूँ और ७ बजे तक पढ़ता रहता हूँ। अनन्तर पाठशाला जाता हूँ। ११ बजे वीणा और १२ बजे पियानो बजाता हूँ। पुन: भोजन करके स्कूल जाता हूँ और वहाँ से लौटकर चाय आदि पीकर व्यायाम करता हूँ, अनन्तर स्वच्छ वायु-सेवन के लिए वाटिकाओं में भ्रमण करता हूँ। मैं प्रात: ५ से मध्याह्न १ के बीच केवल एक बार एक रोटी ही खाकर रहता हूँ। काफी भी देर से पीता हूँ। अत: कभी-कभी शिथिलता का अनुभव होता है। पिछले सप्ताह से मुझे शिरोवेदना हुआ करती है, किन्तु अपने इस जीवन से मैं अभ्यस्त होता जा रहा हूँ और मुझे अपना यह जीवन आनन्दमय प्रतीत होता है।

१८४१ में मैक्स ने छात्रवृत्ति की एक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की जिसके कारण इन्हें छ: पौण्ड की मासिक छात्रवृत्ति मिली। इसी समय ये अपना पाठशालीय जीवन समाप्त कर लिपजिग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहाँ के एक प्राध्यापक की विशेष प्रेरणा के फलस्वरूप इनका ध्यान संस्कृत भाषा की ओर आकृष्ट हुआ और ये संस्कृत का अध्ययन करने लगे। शैक्षिक-सत्र के अन्त में इनका ध्यान विशेष रूप से ऋग्वेद की ऋचाओं के अध्ययन की ओर हुआ और ये उसका अध्ययन करने लगे। ऋचाओं में वर्णित पवित्रतम भावनाओं से यह इतना अधिक प्रभावित हुए कि यही इनका मुख्य अध्ययन विषय हो गया जो आगे चलकर इनकी अमरकीर्त्ति का कारण हुआ। १ सितम्बर १८४३ को इन्हें डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि मिली। इस समय इनकी अवस्था १९ वर्ष ९ मास थी। इतने अल्पवय में विश्वविद्यालय की उच्च उपाधि प्राप्त करना

इनके अथक परिश्रम का ही फल था। उपाधि ग्रहण के अवसर पर आवश्यक रूप से धारण किये जानेवाले परिधान के लिए इनके पास पैसा नहीं था। अत: इन्होंने उधार लेकर वह वस्त्र पहिना। मार्च १८४४ में इन्होंने हितोपदेश का जर्मन भाषा में अनुवाद पूरा किया। इसी समय इनका विचार वर्लिन जाकर संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् प्रोफेसर वाप् से संस्कृत अध्ययन का तथा प्रशिया के राजा ने इंगलैंड से जो संस्कृत ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का भाण्डार खरीदा था, उसे देखने का मन हुआ और ये वर्लिन चले आये। इनका वर्लिन का जीवन-काल वहुत ही कष्टमय दशा में व्यतीत हुआ। एक ओर तो अध्ययन का अदम्य उत्साह, दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयाँ ऐसी कि साधारण दैनिक जीवननिर्वाह के लिए भी पैसा नहीं; किन्तु इन्होंने इन कठिनाइयों की कोई चिन्ता न की और अपने प्रिय विषय के अध्ययन में दत्तचित्त रहे। इस समय के इनके वे पत्र जो इन्होंने अपनी माता के पास भेजे इनकी आर्थिक असुविधाओं और परिश्रम की प्रवृत्ति का अच्छा परिचय देते हैं। एक पत्र में इन्होंने लिखा है—All day at home-No dinner Work till 3 a. m. अर्थात् सम्पूर्ण दिवस घर पर ही रहा—भोजन का अभाव—और कार्य प्रात: ३ वजे तक। सुव्यवस्थित भोजन तो दूर, कहवा (एक प्रकार का पेय) के लिए दूध अथवा शर्करा भी सुलभ न होती थी। वहुधा इनके कुछ मित्र इन्हें अपने घर ले जाकर भोजन कराते थे जो इनके लिए वहुत बड़ी सहायता थी। इनके इस प्रकार के जीवन से स्वामी रामतीर्थ के जीवन का स्मरण हो आता है। इसी प्रकार उस भारतीय तरुण तपस्वी ने भी अपना जीवन व्यतीत किया और रात-रात भर जागकर सत्य की खोज की। खेद है, आज का भारतीय विद्यार्थी-वर्ग विशेषकर विश्व-विद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विख्यात छात्र-समाज शत-प्रतिशत व्यसनों में ही व्यस्त रहकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है और इस प्रकार विद्या और ज्ञान के लिए प्रख्यात भारत ह्रासोन्मुख होता जा रहा है। यह कहना कुछ अनुचित न होगा कि आज का छात्र-समाज वाममार्गियों की पंच मकारोपासना के स्थान पर पंच सकार अर्थात् सिनेमा, सिगरेट, सूट,

सुरापान और सुन्दरी दर्शन का उपासक बन गया है। उसका अध्ययन उसके 'नोटों' तक सीमित है। उसका परिश्रम परीक्षाकाल के मास दो मास पूर्व कुछ परीक्षणीय प्रश्नों के तैयार करने में ही दृष्टि-गोचर होता है। शेष समय रिक्रे-एशन और फैशन में—मनोरंजन और विलासिता वृत्ति के व्यसनों में। मैक्समूलर के समक्ष भी ऐसे व्यसन के अवसर थे, उनके मित्र नृत्य गोष्ठियों के निःशुल्क प्रवेश-पत्र देते थे, वे सड़कों पर उत्तेजक विज्ञापन भी देखते थे पर आत्मसंवरण कर अध्ययन में रत रहते थे। अपने परिश्रम करने का ढंग उन्होंने एक स्थान पर इस प्रकार लिखा है कि "संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों और टीकाओं की प्रतिलिपि करने के लिए मैं एक रात तो पूरा-पूरा जागता हूँ और दूसरी रात को केवल दो घंटे सोता हूँ पुनः दिन भर पूरा परिश्रम कर तीसरी रात अच्छी तरह सोता हूँ और पुनः इसी प्रकार परिश्रम प्रारम्भ कर देता हूँ।"

ऋग्वेद का प्रकाशन

१८४५ में मैक्समूलर की भेंट फ्रांसीसी संस्कृतज्ञ विद्वान् बर्नफ से हुई। डा० बर्नफ ने बड़े स्नेह और सौहार्द्र के साथ मैक्समूलर से संभाषण आदि किया, जिससे मैक्समूलर अत्यधिक प्रभावित हुए। बर्नफ के साथ अपनी इस प्रथम भेंट का वर्णन मैक्समूलर ने बहुत अच्छे ढंग से किया है जिसमें बर्नफ के शिष्ट संभाषण और व्यवहार की प्रशंसा की गयी है। डा० बर्नफ ऋग्वेद पर व्याख्यान दिया करते थे। उनकी कक्षा में चुने हुए उच्चकोटि के विद्यार्थी थे जिनमें महर्षि पाणिनि के ऊपर गवेषणात्मक निबंध लिखनेवाले गोल्डस्टकर भी थे। इस प्रकार विशिष्ट विद्या-व्यसनियों के सम्पर्क में वेद के व्याख्याता बर्नफ की व्याख्यानमाला ने मैक्समूलर के लिए नवीन संसार का सृजन किया और मैक्स-मूलर ने सायण-भाष्य युक्त ऋग्वेद को अपने विशेष अध्ययन और अन्वेषण का विषय बनाया। बर्नफ ने इनसे कहा था —

Either study Indian philosophy or study Indian religion and copy the hymns and Sayana. अर्थात् या तो भारतीय दर्शनशास्त्र का अथवा भारतीय धर्मशास्त्र का अध्ययन करो और ऋग्वेद की

ऋचाओं तथा सायण-भाष्य की प्रतिलिपि करो। विनीत शिष्य ने गुरु के आदेश का पालन किया। मैक्स आवश्यक सामग्री का संचय करने लगे। भारत से विलायत पहुँची हुई अनेक टीकाओं तथा वेद की उपलब्ध प्रतियों का संग्रह कर मैक्स उनकी प्रतिलिपि करने लगे। कार्य बड़ा कठिन था। सायण की टीका चार हजार पृष्ठों में थी। इसके अतिरिक्त टीका म उल्लिखित पुस्तकों की भी आप यथासाध्य प्रतिलिपि करते थे जिससे अर्थ के वास्तविक ज्ञान में त्रुटि न हो। टीका के आधार पर ऋचाओं का शुद्ध पाठ समझने में बहुधा इनको एक-एक सप्ताह तक लग जाता था। इस प्रकार अनेक धैर्य छुड़ा देनेवाली कठिनाइयों को उत्साह पूर्वक सहन करते हुए मैक्समूलर ने ऋग्वेद का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने के लिए लगातार चार वर्ष तक अत्यन्त कठिन परिश्रम किया। इन दिनों इनकी आर्थिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। यदि इनके मित्र जान वन्सेन इनकी सहायता न करते होते तो यह इँगलैंड में रह ही न सकते थे। अनेक दैनिक आवश्यकताओं के अभाव में वह बड़ा कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। वह प्रतिदिन पैदल ही इण्डिया हाउस जाते और आते। उनका हाथ पुस्तकों और कागजों से भरा रहता था। इस समय की एक बड़ी करुण घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

एक दिन मैक्समूलर अपने टूटे चश्मे को बनवाने के लिए स्ट्राण्ड में एक दूकान पर गये और बनवाई चुकाने के लिए दूकानदार को एक गिन्नी दी। दूकानदार ने भ्रमवश आधी गिन्नी का भाँज वापस किया और आग्रह करने लगा कि मैक्स ने आधी गिन्नी ही दी थी। मैक्स दूकानदार से अधिक न भिड़कर चुपचाप वापस चले आये। उन्हें इस बात का दुःख हुआ कि उस आधी गिन्नी में वह कई दिन भोजन कर सकते थे। अस्तु वे कई दिन बिना भोजन के ही रह गये। एक दिन जब वह उधर से पुनः निकले तो वही दूकान-दार दौड़ता हुआ मैक्स के पास आया और १० शिलिंग उनको वापस करते हुए बोला—"मुझे क्षमा कीजिए। उस दिन जब मैंने अपना हिसाब मिलाया तब मुझे अपनी भूल का निश्चय हुआ। मैं तब से आपको नित्य देखता रहता था, आज मेरा जी हलका हुआ।"

इस घटना से एक ओर तो अँग्रेजों के नैतिक उत्थान का परिचय मिलता है, दूसरी ओर चरित्र नायक के प्रसंग में उनकी कष्ट सहिष्णुता का। इस प्रकार की कठिनाइयों के बीच रहते हुए अन्न-वस्त्र के अभाव की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए तथा आमोद-प्रमोद को सर्वथा तिलाञ्जलि देकर अहर्निशि के कठोर परिश्रम द्वारा मैक्समूलर ने जब ऋचाओं तथा सायण भाष्य की शुद्ध और प्रामाणिक पांडुलिपि प्रस्तुत कर ली तब उसके छपाने की उनको तीव्र चिन्ता हुई। क्वार्टो आकार के पूरे ३००० पृष्ठ छपने थे। पुरानी पोथी, विशेषकर एक वर्ग विशेष की। क्योंकि तब तो आजकल की-सी उदारता का अभाव था और वेद ब्राह्मणों की ही निधि समझे जाते थे। ऐसी दशा में मुद्रित पुस्तकों की बिक्री की कोई संभावना न समझकर कोई प्रकाशक उसे छापने को तैयार नहीं हुआ। अन्त में ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया; किंतु संचालकगण एक पुरानी पोथी के लिए इतना अधिक व्यय स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। होते भी कैसे। उसका एक भी सदस्य प्रकाशित होनेवाले ग्रंथ से परिचित न था। कुछ ने तो उससे पूर्व नाम भी न सुना था, पढ़ना और समझना तो दूर रहा; किन्तु इंडिया हाउस की लायब्रेरी के अध्यक्ष डा० विल्सन तथा डा० बन्सेन के समझाने से कम्पनी वालों ने उसका छापना स्वीकार किया। डा० विल्सन स्वयं भी ऋग्वेद का अँग्रेजी में अनुवाद कर रहे थे; किन्तु शुद्ध संस्करण न मिलने से उन्हें भी कठिनाई हो रही थी। उन्होंने कम्पनी के डाइरेक्टरों को यह समझाया कि यदि इस महान् ग्रंथ को अन्य देशवासियों ने प्रकाशित किया तो इंगलैंड की कैसी अप्रतिष्ठा होगी। इस प्रकार जातीय गौरव और मर्यादा का प्रश्न सामने आने पर कम्पनी के डाइरेक्टरों ने उसका प्रकाशन स्वीकार किया। प्रकाशन सम्बन्धी सब बातें कि मैक्समूलर को क्या पारिश्रमिक दिया जायगा, किस रूप में प्रकाशन होगा इत्यादि अप्रैल १८४७ में निश्चित हुईं। विशेष प्रकार के टाइप बने और तब वहीं छपना प्रारम्भ हुआ।

साधना की चरम परिणति है सफलता का दर्शन। मैक्समूलर ने जब अपनी पाण्डुलिपि को मुद्रित पृष्ठों के रूप में सर्वप्रथम देखा तब उनके हर्ष

की सीमा न रही। उन्होंने १३ जुलाई १८४७ को प्रथम खण्ड के कुछ मुद्रित पृष्ठ सर्वप्रथम अपने गुरु वर्नफ के पास—जिन्होंने इस कार्य के लिए उन्हें प्रेरणा दी थी—पेरिस भेजे। इंगलैंड में बराबर कुछ-न-कुछ अस्वस्थ रहने के कारण मैक्स जलवायु परिवर्त्तन के लिए जून में आक्सफर्ड आये और प्रेस के समीप 'वाल्टन प्लेस' में ठहरे। आक्सफर्ड के मनो-मुग्धकर प्राकृतिक सौंदर्य ने मैक्स को बहुत प्रभावित किया और वे प्रायः ५२ वर्ष तक यहाँ रहे। ऋग्वेद का प्रथम खण्ड १८४९ में पूर्ण हुआ। सन् १८५०-५१ के बीच मैक्स आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान के लेक्चरर के पद पर नियुक्त हुए और दिसंबर ४ को डिप्टी प्रोफेसर बना दिये गये। इनके विश्वविद्यालयीय व्याख्यान बड़े विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक होते थे। अतः मैक्स की ख्याति दिनोंदिन बढ़ने लगी। और ये फरवरी ५२ में बन्सेन और मैकाले के साथ रायल बवेरियन एकेडेमी के सदस्य चुने गये। इस समय इनका २८वां वर्ष पूरा हुआ था। अतः बन्सेन और मैकाले जैसे ख्याति प्राप्त विद्वानों के साथ इनका चुनाव इनकी योग्यता का ही प्रमाण समझना चाहिए। मैक्स विघ्न-बाधाओं से कभी भी विचलित नहीं होते थे और प्रारंभ किये हुए कार्य में लगे ही रहते थे। इस प्रकार अन-वरत परिश्रम-पूर्वक इन्होंने १८७३ के लगभग ऋग्वेद का छठा और अन्तिम खंड पूर्ण किया। १८५२ में इनके गुरु वर्नफ की मृत्यु से इनको बड़ा खेद हुआ। आक्सफर्ड निवास-काल में इनके अनेक मित्र हुए जिनमें ज्योतिषी हर्शेल, भाषा-विज्ञानी बर्न, बेनफे और वेबर के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं! बेनफे ने सामवेद का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करवाया था और बेवर ने यजुर्वेद का। इस प्रकार जिन दिनों भारत में वेद-ज्ञान ह्रासोन्मुख हो रहा था उस समय विदेशी विद्वान् उसकी गवेषणा में उत्साह-पूर्वक लगे हुए थे। इन विदेशी विद्वानों ने जो कुछ कार्य किया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। उन्होंने न केवल भारतीय ज्ञाननिधि का परिष्कार किया प्रत्युत् उनके द्वारा विदेश में वेदों का प्रचार भी हुआ और भारतीय संस्कृत-साहित्य के प्रति वहाँ के लोगों का अनुराग बढ़ा। विदेश के लोगों को यह जानने का सुयोग प्राप्त हुआ कि भारत में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का प्रकाश कितने समय पूर्व हो चुका था।

समस्त ऋग्वेद के अध्ययन और प्रकाशन काल के बीच ऐसा नहीं था कि मैक्स केवल उसी एक के लिए अपना सारा समय देते रहे हों वरन् अन्य विषयों और कार्यों में भी वे व्यस्त रहते थे। उन्होंने कालिदास रचित मेघदूत का अँग्रेजी अनुवाद किया, फ्रेंच और बंगला सीखी, अँग्रेजी बोलने का अभ्यास किया, संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा, संस्कृत का व्याकरण लिखा और इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा के लिए पुस्तकें तैयार करायीं। चिप्स् फ्राम ए जर्मन वर्कशाप ३ भाग, लेक्चर्स आफ लैंग्युएज आदि ग्रंथ भी लिखे।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास प्रकाशित होने पर मैक्समूलर का बड़ा नाम हुआ; क्योंकि पुस्तक बड़ी खोज और अध्ययन के अनन्तर लिखी गई थी। इसीलिए उसकी उपादेयता भी बहुत अधिक थी। इसके विषय में प्रोफेसर विलसन ने अक्टूबर १८६० की इंडियनवर्ग रिव्यू में लिखा था—

It is not possible in a brief survey, like the present, to render justice to a work every page of which teems with information that no other scholar ever has, or could have, placed before the pupils.

अर्थात् इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में नवीन सूचनाएँ हैं और ऐसी सुन्दर पुस्तक कदाचित् ही किसी विद्वान् ने लिखी होगी इसकी संक्षिप्त समालोचना में इसकी सब विशेषताओं का वर्णन कर सकना असम्भव है।

इन तथा अन्य अनेक पुस्तकों को लिखने के साथ ही मैक्समूलर ने संपादन कार्य द्वारा भी अपने को अमर बनाया है। इनकी संपादन योजना बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। वह चाहते थे कि बृहत्तर-भारत के विभिन्न संप्रदाय और धर्म-विशेष के मुख्य-मुख्य ग्रंथ सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वानों द्वारा अनूदित होकर प्रकाशित हों। इसी उद्देश्य से उन्होंने सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट (प्राच्य पवित्र ग्रंथमाला) नामक पुस्तकमाला प्रकाशित करायी। इसका पहला खंड १८७९ में उपनिषदों के अनुवाद के रूप में प्रकाशित हुआ। क्रमशः इसके अनेक खण्ड प्रकाशित हुए जो किसी भी उत्तम पुस्तकालय में देखे जा सकते हैं। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

विवाह और कौटुम्बिक जीवन

मैक्स जैसे मातृ-भक्त संसार में कम होते हैं। अध्ययन और विद्या-व्यसन के कारण यद्यपि मैक्स अपनी माता के साथ जर्मनी में अधिक समय तक न रह सके; किंतु जीवन की कोई भी बात वह अपनी माता को सूचित किये बिना नहीं रह सकते थे। इनका अपनी माता के साथ हुआ पत्र-व्यवहार संग्रहणीय वस्तु है। उसमें मैक्स के उदात्त विचार बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। मैक्स की अवस्था जैसे-ही-जैसे बढ़ती जाती थी इनकी माता इनके विवाह के लिए चिंतित होती जाती थीं; किंतु मैक्स अपने अध्ययन-प्रेम के कारण इस ओर से उदासीन थे। इस प्रकार जीवन के ३५ वर्ष तक ये कुंआरे रहे, ३६ वें वर्ष में इनका विवाह रिवसंडेल ग्रीनफेल तथा चारलोटी ईलियट की ज्येष्ठ कन्या जिआर्जिना के साथ ३ अगस्त १८५६ को ११॥ बजे आक्सफोर्ड के 'त्रे' चर्च में सम्पन्न हुआ। विवाह के समय माता जर्मनी में ही थीं। पत्र के द्वारा जो आह्लाद के भाव इन्होंने प्रकट किये हैं वे पठनीय हैं। इनकी स्त्री का स्वभाव अत्यन्त सरल और उदार था। वह बड़ी गुणवती थी। मैक्स के प्रत्येक उपलब्ध पत्र का संग्रह कर छोटी-छोटी परिचयात्मक टिप्पणियों के साथ उसने इनका जीवन-वृत दो वृहद् खण्डों में प्रकाशित कर अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध किया है। मैक्स के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की सभी बातें इसमें आ गयी हैं। उनके दार्शनिक, साहित्यिक तथा सामाजिक विचार संग्रहीत पत्रों में बड़ी सुन्दरता के साथ लिखे हैं। इस प्रकार उस साध्वी और सुशीला धर्म-पत्नी ने अपने जीवन सर्वस्व और श्रेष्ठतम विद्वान् का सबसे सुन्दर स्मारक प्रस्तुत कर अपना और उनका नाम अमर किया है। भारत की शिक्षित महिलाओं को इसका अनुकरण करना चाहिए। मैक्स ने विवाह के कुछ ही दिन बाद संतति सुख भी प्राप्त किया और इस प्रकार ये सांसारिक दृष्टि से परम सुखी हुए। इन्होंने अपने पुत्र और पुत्रियों की शिक्षा पर भी बहुत अधिक ध्यान दिया और उनको सुयोग्य बनाया। खेद है इनकी दो सुशिक्षिता कन्याएँ इन्हीं के जीवन काल में मृत हुईं जिससे उनको बड़ा दुःख हुआ।

भारतवर्ष से प्रेम

मैक्स के जीवन के बहुमूल्य क्षण भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा संस्कृत के अध्ययन में व्यतीत हुए थे। अतः उस भाषा की जन्मभूमि से उनका प्रेम होना स्वाभाविक ही था। उच्चतम भावनाओं से ओत-प्रोत ऋग्वेद की ऋचाओं के अध्ययन से उनका यह भारत-प्रेम दृढ़ और स्थायी हो गया। वे यहाँ के ऋषियों के जीवन और आचार पर मुग्ध थे और उनके ज्ञान की प्रशंसा करते न अघाते। अध्ययन सम्बन्धी अनुसंधान के सम्बन्ध में उनका अनेक भारतीय विद्वानों से पत्र-व्यवहार चलता रहा और विलायत जाने वाले भारतीयों से वे अवसर पाते ही प्रेम से मिलते-जुलते रहे। जन्मना उदार भारतवासी भी उनसे प्रेम किये बिना न रहे। इस प्रकार परस्पर साक्षात्कार के बिना भी अनेक भारतीय विद्वान् उनकी श्रद्धा के पात्र बन गये और भारतीय विद्वज्जन उनके गुणों के प्रशंसक। मैक्स को स्वामी रामकृष्ण परमहंस का जीवन बहुत प्रिय था। उन्होंने स्वयं भी उनकी जीवनी लिखी है। सन् १८९८ में जब राजद्रोह का आरोप लगाकर भारतीय विद्वान् श्री बालगंगाधर तिलक को नजरबन्दी का दण्ड मिला तब मैक्स को यह वृत्तांत जानकर बड़ा खेद हुआ। उन्हें आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति देश-सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किये हो उसको इस प्रकार दंड दिया जाय! मैक्स महारानी विक्टोरिया के बड़े प्रिय पात्र थे। कम्पनी का अधिकार भारतवर्ष से हटने पर रानी विक्टोरिया ने भारत का शासन-भार ग्रहण किया था। उस समय वेद प्रकाशन का कार्य संकट में पड़ गया था; किन्तु महारानी ने उसी समय इनसे भेंट की थी और इनके गुणों पर मुग्ध होकर उसके प्रकाशन की व्यवस्था कर दी थी। तभी से आप महारानी से बहुधा सम्मानित होकर मिला करते थे। महात्मा तिलक के लिए वे स्वयं महारानी से मिले और उनका दण्डित किया जाना अन्याय बतलाया; किन्तु इस सम्बन्ध में परिणाम कुछ न हुआ जिससे मैक्स को बड़ा खेद हुआ।

मैक्स भारतीयों के उदारभाव की सदा प्रशंसा किया करते थे। जब ऋग्वेद के द्वितीय संस्करण की माँग हुई, तब उन्होंने भारत से धन याचना की; जिस पर महाराज विजयनगर ने, जो ऋग्वेद के टीकाकार सायणाचार्य की

जन्मभूमि के अधिपति थे। चार हजार पौण्ड अर्थात् ६७१५० रु० की सहायता दी, जिसे बड़ी प्रसन्नता और कृतज्ञता के साथ मैक्स ने स्वीकार किया और द्विगुणित उत्साह से द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करायी।

मोक्षमूलर

भारतवासी मैक्समूलर को मोक्षमूलर कहते हैं। यह नाम एक भारतीय पण्डित ने ही रक्खा था। जिसकी व्युत्पत्ति करते हुए उसने उनको लिखा था कि आपने ही सर्वप्रथम ऋग्वेद का मुद्रण कराया है। इस प्रकार आपने मोक्ष को मूल प्रदान किया है (मोक्ष + मूल + रा दाने)। संक्षेपतः जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है वे भारतीयों की श्रद्धा के पात्र थे और भारतीय उनकी श्रद्धा और प्रेम के। अतः मैक्स की भारत आने की बड़ी प्रबल इच्छा थी, किन्तु वह पूर्ण न हो सकी।

जीवन के अन्तिम दिवसों में मैक्स कई वार विशेष अस्वस्थ हुए और अच्छे होकर पुनः पूर्ववत् कार्य करने लगे; किन्तु सन् १९०० की जुलाई में जो रोगाक्रमण हुआ उसने विकराल रूप धारण किया और ३-४ मास तक व्यथित रहने के अनन्तर रविवार २८ अक्तूबर सन् १९०० को आपका शरीरांत हो गया। इस दुःखप्रद समाचार से भारत और समस्त योरप के शिक्षित समाज में शोक छा गया। महारानी विक्टोरिया, प्रिंस एडवर्ड तथा समस्त राजकुटुम्ब ने भी बड़ा शोक किया। महारानी ने कहा—'आज संस्कृत का पश्चिमी सितारा डूब गया.............।' आपका मृत शरीर आक्सफर्ड में भूमिसात् किया गया। विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि, सभा-समाज के अग्रणी, महारानी विक्टोरिया तथा जर्मनी के प्रतिनिधि और सहस्र-सहस्र सम्मानित जनता के बीच पुष्प-वृष्टि के साथ आपका मृत-कर्म समाप्त हुआ।

मैक्समूलर कर्मयोगी थे। सज्ञान होने के अनन्तर उनके जीवन का प्रत्येक क्षण शुभ कर्मों के समाचरण में ही बीता, अधिकांश स्वाध्याय में। उन्होंने कर्मोपासना के द्वारा ही उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान, आत्म-संतोष, राजसम्मान, जनसम्मान और सब सुखों का मूल कारण धन भी प्राप्त किया। उनको अपनी

जननी और जन्मभूमि से अतिशय प्रेम था। ईश्वर की दयालुता और उसके प्रत्येक कार्य में मानव के मंगल की रहस्यमयी भावना पर उनका अटल विश्वास था। जो कुछ हो रहा है सब उसी परमशक्ति की प्रेरणा से तथा जगत के हित में ही। निश्चल और निश्छल ईश्वर-भक्ति के बल पर ही उन्होंने अपने जीवन की समस्त विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त की और दुःख तथा शोक के समय धैर्य से काम किया। त्याग और संयम के द्वारा साहस और शक्ति प्राप्त कर उन्होंने विपुल अध्ययन किया और महान् ग्रंथराशि रची। उनके जीवन से इन सब बातों की शिक्षा ग्रहण कर हमको भी अपना जीवन उन्नत और प्रशस्त बनाना चाहिए।

मैक्स के जीवन के प्रत्येक दिन का पृथक् इतिहास है। कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनकी इस लघु-कलेवर लेख में चर्चा तक नहीं हुई। यहाँ तो संक्षेपतः उनके जीवन का विशेषकर अध्ययन-अध्यापन और ग्रंथ प्रणयन का वर्णन किया गया है। विद्या-व्यसनियों को चाहिए कि वे उनकी सुयोग्य पत्नी द्वारा सम्पादित अँग्रेजी में मुद्रित और दो वृहत् खण्डों में प्रकाशित जीवनी और पत्रों को अवश्य पढ़ें। उसमें खण्डन-मण्डन तथा ज्ञान-वर्धन की प्रभूत सामग्री वर्त्तमान है। कुछ पत्रों में ईश्वरनिष्ठा और दार्शनिकता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इनमें से एक पत्र जो इन्होंने १८६० की जुलाई में अपनी रुग्ण पत्नी को लिखा था नीचे उद्धृत किया जाता है:—

Surely everything is ordered and ordered for our true interests. It would be fearful to think that anything, however small in appearance, could happen to us withouht the will of God. If you admit the idea of chance or unmeaning events anywhere, the whole organization of our life in God is broken to pieces. We are we don't know where, unless we rest in God, and give Him praise for all things. We must trust in Him, whether He sends us joy or sorrow. If He sends us joy let

us be careful. Happiness is often sent to try us, and is by no means a proof of our having deserved it. Nor is sorrow always a sign of God's displeasure, but frequently, nay, always, of His love and compassion we must each interpret our life as best we can, but we must be sure that its deepest purpose is to bring us back to God through Christ. Death is a condition of our life on earth, it brings the creature back to its creator. The creature groans at the sight of death, but God will not forsake us at the last. He who has never forsaken us from the first breath of our life on earth. If it be His will, we may live to serve Him here on earth for many happy years to come. If He takes either of us away His name be praised. We live in the shadow of death, but that shadow should not darken the brightness of our life. It is the shadow of the hand of our God and Father, and the earnest of a higher brighter life hereafter. Our Father in Heaven loves us more than any husband can love his wife, or any mother his child. His hand can never hurt us, so let us hope and trust always.

९६—

सर विलियम जोन्स

९३ —से — १७९४ ई० तक॥

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष में व्यापार करनेवाले १२५ अँग्रेजों ने मिलकर व्यापार करने की दृष्टि से १०।। लाख रुपया एकत्र किया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। कंपनी के प्रामाणिक रूप से व्यापार करने के अनुमति-पत्र पर इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ ने ३१ दिसंबर १६०० को अपने हस्ताक्षर किये और इस प्रकार भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कम्पनी अथवा अँग्रेजी राज की नींव पड़ी। कंपनी के अधिकारी अपनी शक्ति भर धन और भूमि संचय करने में लगे रहे। धीरे-धीरे जब वे छल-बल से शासक बन बैठे, तब उनको भारतीयों पर समुचित ढंग से शासन की चिंता हुई। कम्पनी के शासनारम्भ में वारेन हेस्टिंग्स पहले गवर्नर जनरल हुए, जिन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि भारतीयों पर शासन के लिए उनके धर्म, इतिहास और संस्कृति तथा साहित्य का ज्ञान परम आवश्यक है। तदनुसार उन्होंने तत्कालीन अपने अधीन कर्मचारियों का ध्यान संस्कृत पढ़ने की ओर आकृष्ट किया। क्योंकि उन्होंने यह अच्छी तरह जान लिया था कि भारतीयों के आचार-विचार तथा व्यवहार की सभी बातें संस्कृत भाषा में लिखी हैं। उनके काव्य और इतिहास तथा दर्शन आदि का ज्ञान बिना संस्कृत ज्ञान के नहीं हो सकता। इस प्रकार अँग्रेजों में संस्कृत के अध्ययन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यद्यपि स्वार्थ की भावना से ही हुआ; किंतु सुधा का रसास्वाद पाकर फिर उसे कौन छोड़ सकता है? संस्कृत साहित्य की ललित पदावली, गुरुतर ज्ञान और कांता संमित उपदेश पर अनुरागी अंग्रेज इस प्रकार रीझे कि आगे चलकर उनमें एक से एक बढ़कर संस्कृत के विद्वान् हुए। उनके इस प्रकार संस्कृतानुराग से भारतीयों का बड़ा लाभ हुआ। संस्कृत पढ़ने का एक नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ। तुलना और समालोचना की पद्धति तथा गवेषणा की ओर लोगों

का ध्यान गया और संस्कृत साहित्य का अध्ययन इन विचारों से अधिक किया जाने लगा। भाषा विज्ञान, पुरातत्त्व-विज्ञान आदि जैसे विषयों का अध्ययन अँग्रेजों के संस्कृत के अध्ययन का ही फल है। हेस्टिंग्स की इस नीति के प्रसार से पूर्व भी यद्यपि अनेक ईसाई धर्म-प्रचारक संस्कृत का अध्ययन करने में लगे थे किंतु साहित्यिक अभिरुचि का अध्ययन सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने ही किया।

सर विलियम जोन्स सन् १७८३ ई० में न्यायाधीश के पद पर काम करने के लिए विलायत से बुलाये गये थे। वे बंगाल की सुप्रीम कोर्ट (सबसे बड़ी अदालत) के जज थे। इस पद पर उन्होंने लगभग ११ वर्ष काम किया और १७६४ में उनकी मृत्यु कलकत्ते में हो गयी। इन ११ वर्षों के बीच ही भीषण कठिनाइयों के आने पर भी संस्कृत का समुचित ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने जो कार्य किया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। भारत आने से पूर्व विलियम जोन्स ने आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में अरबी और फ़ारसी भाषा का अच्छा अध्ययन किया था। उन्होंने फ़ारसी भाषा का व्याकरण बड़े वैज्ञानिक ढंग से लिखा है। इनके संस्कृत सीखने और पढ़ने की कहानी बड़ी रोचक है।

सर विलियम जोन्स ने संस्कृत पढ़ने के लिए एक पण्डित नियुक्त करना चाहा, किंतु वह समय दूसरा था। उस समय यद्यपि संस्कृत के पण्डित और विद्वान् आज की अपेक्षा बहुत अधिक थे ? किंतु म्लेच्छों अथवा यवनों को संस्कृत पढ़ाना वर्ज्य था। संस्कृत के पण्डित अँग्रेजों की गणना म्लेच्छों में करते थे। उन्हें जो कोई संस्कृत की शिक्षा देता वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता। कृष्णनगर के महाराज श्रीशिवचंद्र नेमी ने सर विलियम को संस्कृत पढ़ाने के लिए पण्डित ढूँढ़ा पर कोई न मिला। अधिकाधिक मासिक वेतन का भी प्रलोभन पाकर संस्कृत पंडित म्लेच्छ विलियम को संस्कृत पढ़ाने के लिए राजी न हुए। उस समय के संस्कृत के प्रधान विद्यापीठ नवद्वीप में भी सर विलियम अपने सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए गये ; पर उन्हें किसी ने अपना शिष्य नहीं बनाया। वे हताश होकर लौट आये। अंत में कलकत्ते में ही एक संस्कृतज्ञ वैद्य ने उन्हें संस्कृत पढ़ाना स्वीकार किया। इनका नाम था रामलोचन कविभूषण।

ये हावड़ा के पास सलकिया में रहते थे। इनकी पत्नी का देहांत हो चुका था और संतान भी कोई न थी। व्यवसाय वैद्यक का था। आस-पास कोई वैद्य न था। लोग झख मारते और वैद्यजी के पास आते, अतः इनके त्याग-परित्याग का कोई प्रश्न ही नहीं था। भविष्य और संतान आदि के विवाहादि की चिंता भी कुछ न थी। इस प्रकार सर्वथा निश्चिंत होकर पंडित रामलोचनजी ने १००) मासिक वेतन और आने-जाने के लिए पालकी के प्रबंध के साथ अपनी स्वीकृति दी। पण्डित जी ने साहब के बँगले के निचले खण्ड का एक कमरा पढ़ाने के लिए पसन्द किया। उसका फर्श संगमरमर का कराया गया। एक हिंदू नौकर रक्खा गया जो पण्डितजी के आदेशानुसार नित्य हुगली से जल लाकर फर्श और दीवालों को धोता। काठ की कुर्सियाँ और काठ की एक टेबिल के अतिरिक्त कमरे की अन्यान्य चीजें हटा दी गयीं। कुर्सी-मेज भी रोज धोये जाते। पण्डितजी ने एक कमरा और खाली कराया, उसमें वे अपने कपड़े बदलते। पण्डितजी ने दो जोड़े वस्त्र रक्खे थे। एक इस कमरे में रहता था जिसे पंडितजी घर से आकर पहिन लेते थे और जाते समय उतारकर पुनः घरवाला पहन लेते। पढ़ाने के लिए प्रातःकाल का समय नियत हुआ। साहब को आदेश हुआ कि वह प्रातः केवल एक प्याला चाय पियें। घर में गोमांस आदि न आने पावे। साहब को संस्कृत पढ़नी थी। उन्होंने पण्डितजी की सब शर्तें स्वीकार कीं और पाठ आरम्भ हुआ।

प्रारम्भिक अध्ययन में भी बड़ी कठिनाई थी। पंडितजी अँग्रेजी से अनभिज्ञ थे और साहब हिन्दी से। माध्यम क्या हो ? नौकर-चाकरों से बातचीत करने में साहब ने जो कुछ थोड़ी-बहुत हिन्दी सीखी थी, उसी के आधार पर अध्ययन चला। अपने पद के कार्यभार का निर्वाह करते हुए साहब ने संस्कृत सीखने में कठिन परिश्रम से काम लिया और साल भर में ही वे सरल संस्कृत में अपना आशय अभिव्यक्त करने में समर्थ हो गये। इस सम्बन्ध में साहब के धैर्य, परिश्रम और सहिष्णुता की प्रशंसा करनी चाहिए। क्योंकि पण्डित रामलोचनजी का स्वभाव थोड़ा उग्र था। किसी बात के दुबारा पूछे जाने पर वे बहुधा झल्ला उठते और कह बैठते—विषय क्लिष्ट है। गो-मांस भोजी की समझ में आना

असम्भव है। परन्तु सर विलियम जोन्स ने इन तिरस्कृत वाक्यों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया और अपने गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सत्कार का भाव रखते हुए उन्होंने विद्या ग्रहण की।

पण्डित रामलोचन काव्य, नाटक तथा अलंकार और व्याकरण के अच्छे पण्डित थे। थोड़ा ज्ञान हो जाने पर सर विलियम जोन्स ने सर्वप्रथम कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक पढ़ा और उन्हें आश्चर्य हुआ कि भारत की भाषा में इतना सुन्दर नाटक लिखा गया है। उन्होंने अँग्रेजी में उसका अनुवाद किया जो साधारण कोटि का हुआ; किन्तु उतने से ही उसके पढ़नेवाले अँग्रेजों की आँखें खुल गयीं और विदेशों में संस्कृत साहित्य का गौरव बढ़ा। इसका जर्मन भाषा में अनुवाद पढ़कर जर्मन कवि गेटे ने लिखा था—

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्चयद्,
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोक भूर्लोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।

(वसंत ऋतु के समस्त पुष्प और फल तथा ग्रीष्म ऋतु के भी सब फल-पुष्प और अन्य जो कुछ भी मानव के मानस को रसायन की भाँति संतृप्त और मुग्ध करनेवाला है तथा स्वर्ग और भूलोक दोनों ही के अभूतपूर्व और एकीभूत ऐश्वर्य को हे प्रिय मित्र! यदि तुम देखना चाहते हो तो 'शाकुन्तल' का सेवन करो।)

काव्य, नाटक आदि की शिक्षा समाप्त कर सर विलियम ने न्यायालय के उपयोग की दृष्टि से धर्मशास्त्र तथा संस्कृत साहित्य के चरम गौरव के निदर्शन रूप दर्शन शास्त्र का अध्ययन करना चाहा। रामलोचनजी इनसे अनभिज्ञ थे। अतः दूसरे पंडित की खोज हुई। इस समय तक कट्टरता में कुछ शिथिलता आ गयी थी। अतः अध्यापक शीघ्र मिल गये और सर विलियम ने दर्शन और धर्मशास्त्र का भी सम्यक् अध्ययन किया।

सर विलियम ने कालिदास की सर्वश्रेष्ठ कृति अभिज्ञान शाकुन्तल का अँग्रेजी

में अनुवाद किया यह ऊपर लिखा जा चुका है। उन्होंने धर्मशास्त्र पढ़कर मनुस्मृति का भी अँग्रेजी में अनुवाद किया जो १७९० ई० में छपा। अब तक अँग्रेज न्यायाधीशों को भारतीयों के अभियोगों का विशेषकर दत्तक आदि के सम्बन्ध का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई होती थी——पण्डितों से परामर्श करना पड़ता था। मनुस्मृति का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होने से यह कठिनाई बहुत कुछ दूर हो गयी और भारतवासियों को अपने शास्त्र के अनुकूल अभियोगों का निर्णय कराने में सुविधा हुई। १७९२ में इन्होंने ऋतुसंहार का अनुवाद प्रकाशित कराया। सर विलियम जोन्स का भूरि प्रशंसनीय और चिरस्मरणीय कार्य बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना है जिसे इन्होंने १७८४ में ही स्थापित कर दिया था। इस सोसाइटी के प्रयत्न से भारतीय साहित्य विशेषकर संस्कृत साहित्य के हजारों अलभ्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और उनके विक्रय से सोसाइटी को आर्थिक लाभ भी हुआ।

सर विलियम जोन्स भारत में रहकर अधिक दिनों तक जीवित न रह सके और ११ वर्ष के जागरूक जीवन के अनन्तर १७९४ में कलकत्ते में ही उनकी मृत्यु हो गयी। सर विलियम जोन्स आज हमारे बीच नहीं हैं किंतु अभिज्ञान शाकुन्तल का उनका किया हुआ सर्वप्रथम अँग्रेजी अनुवाद तथा बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के प्रकाशन उनको अमरता प्रदान कर चुके हैं।

कीर्तिर्यस्य स जीवति

१२- डा० जे० जी० बूलर

जुलाई सन् १८३७ — से — अप्रैल सन् १८९८

संस्कृत साहित्य में समुपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में राजाओं की प्रशस्तियों और ताम्रलेखों आदि का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व काश्मीरी पंडितों द्वारा लिखे गये उन ग्रंथों का भी है जो संस्कृत काव्य के रूप में लोकप्रिय हैं। ऐसा ही एक महाकाव्य विक्रमांकदेव चरित नाम का है जिसे काश्मीरी विद्वान् बिल्हण कवि ने लिखा है। बिल्हण द्वारा १०८५ ई० के आस-पास रचा गया यह ऐतिहासिक महाकाव्य उन्नीसवीं शताब्दी तक लुप्तप्राय हो गया था। इसके पुनरुद्धार का श्रेय इन्ही जार्ज बूलर महोदय को है। बूलर महोदय सन् १८७४ ई० में अपने मित्र डा० एच्० जैकोबी के साथ संस्कृत ग्रंथों की खोज में राजपूताना गये हुए थे। वहाँ उन्होंने बड़े प्रयत्न से प्रवेशानुमति प्राप्त कर जेसलमेर का जैन ग्रंथागार देखा जहाँ उन्हें तालपत्रों पर लिखी हुई इस महाकाव्य की अत्यन्त प्राचीन प्रति प्राप्त हुई। यद्यपि उन्हें अवकाश न था फिर भी उन्होंने अपने मित्र जैकोबी के साथ मिलकर एक सप्ताह के भीतर सपरिश्रम इसके १८ सर्गों की प्रतिलिपि की और उस पर विशेष मनन और अनुशीलन के अनन्तर अपनी विस्तृत गवेषणापूर्ण भूमिका के साथ बाम्बे संस्कृत सीरीज में उसका अग्रिम वर्ष प्रकाशन कराया। यद्यपि भूमिका में लिखी गयी उनकी कुछ बातों का खण्डन-मण्डन इधर विद्वानों ने किया है तथापि उनका मूल पाठ संशोधन, बिल्हण विषयक ऐतिहासिक विवरण और काव्यगत गुण-दोष का मौलिक विवेचन सर्वथा अभिनन्दनीय और श्लाघनीय है। उस समय डा० बूलर के प्रयत्नों से सुलभ उस संस्करण की विद्वानों ने अत्यधिक प्रशंसा की थी। इस प्रकार संस्कृत ग्रंथों के अनुसंधान और अनुशीलन में रत डा० बूलर को काश्मीर परिभ्रमण के समय बिल्हण की ही दूसरी रचना चौर-पंचाशिका की भी एक अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली थी।

जार्ज बूलर के पिता पादरी थे जो जर्मनी के हनोवर राज्य के अन्तर्गत बोरटेल नामक गाँव में रहते थे। वहीं डा० बूलर का जन्म सन् १८३७ की १९वीं जुलाई को हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा हनोवर के पब्लिक स्कूल में हुई और उच्च शिक्षा गार्टिजन के प्रख्यात विश्वविद्यालय में, जहाँ से इनको डाक्टर की उपाधि मिली। इस विश्वविद्यालय में इनका घनिष्ठ सम्पर्क बहु-भाषा वेत्ता तथा वेदज्ञ विद्वान् थ्योडर वेनफी से हुआ। उन्होंने अपने शिष्य बूलर से कहा कि वेदज्ञ ही वास्तव में संस्कृत का विद्वान् कहा जा सकता है। शिष्य ने गुरु के वचनों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया और विशेष परिश्रम-पूर्वक वेद का अध्ययन किया। अनन्तर गुरु और शिष्य ने सम्मिलित रूप से परिश्रम कर सामवेद का सुन्दर और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया। संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों के देखने का व्यसन और प्रेम इनको अध्ययन काल से ही उत्पन्न हो गया था और इसीलिए वे डाक्टर की उपाधि पाने के अनन्तर भ्रमण करते हुए पेरिस, आक्सफोर्ड और लन्दन गये। इस यात्रा में वेदज्ञ मैक्समूलर से इनका साक्षात्कार हुआ और घनिष्ठता बढ़ी। कुछ ही दिनों बाद आप विंडसर के राजकीय पुस्तकालय के सहायक पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए। इस पद पर रहते हुए इनके ऐसे विद्या-व्यसनी को अध्ययन का अपूर्व सुअवसर प्राप्त हुआ। आप अपने कार्यभार का योग्यतापूर्वक निर्वाह करते हुए सपरिश्रम अध्ययन में रत रहकर अपनी ज्ञानवृद्धि करने लगे। इस प्रतिष्ठित पद पर ३ वर्ष तक रहने के बाद आपने स्वेच्छा से त्याग-पत्र दे दिया और इसी पद पर गार्टिजन वापस आ गये।

भारतागमन

इसे भारतवर्ष का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि गार्टिजन रहते हुए इनके हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि संस्कृत भाषा की जननी भारत-भूमि में जाकर संस्कृत के विद्वानों की शिष्यता और सम्पर्क के बिना संस्कृत का यथार्थ ज्ञान और आस्वाद नहीं प्राप्त हो सकता। तदनुसार आपने अपने मित्रों से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया और अंत में मैक्समूलर के लिखने से बम्बई के शिक्षा-विभाग के तत्कालीन शिक्षा-संचालक

डाक्टर हावर्ड ने इन्हें भारत में आमन्त्रित किया। ये जब बम्बई पहुँचे तब संयोगवश डा० हावर्ड से इनकी भेंट न हो सकी और एलफिस्टन कालेज के प्रिंसिपल अलेक्जेण्डर ने इनको अपने कालेज में प्राच्यभाषा के अध्यापक-पद पर नियुक्त किया। इनकी यह नियुक्ति १८६३ में हुई और तब से १८८० तक आप भारत में ससम्मान वर्तमान रहे। प्रिंसिपल अलेक्जेण्डर इनके परिश्रम से और इनके छात्र इनके गवेषणामूलक गम्भीर ज्ञान से अत्यन्त संतुष्ट रहे। १८६८ में विलुप्त ग्रंथों की खोज का एक विभाग सरकार द्वारा खोला गया और आप इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। अपनी खोज के द्वारा इन्होंने ५०० जैनग्रंथों का पुनरुद्धार किया और अन्य डेढ़-दो हजार संस्कृत ग्रंथों की भी खोज की। खोज के साथ ही इन बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाशन के लिए तथा भारतीयों के समक्ष योरपीय ढंग से संपादन का आदर्श उपस्थित करने के लिए आपने बाम्बे संस्कृत सीरीज (बम्बई संस्कृत ग्रंथमाला) के नाम से प्रकाशन भी प्रारम्भ किया जिसमें बहुत से ग्रंथ प्रकाशित हुए। सन् १८७१ में आपस्तम्ब सूत्र का एक सुन्दर संस्करण इन्हीं के प्रयत्न से प्रकाशित हुआ और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है १८७५ में विक्रमांकदेव चरित भी इन्होंने गवेषणा पूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित किया। सर रेमाण्ड वेस्ट के साथ मिलकर इन्होंने डाइजेस्ट आफ हिन्दूला नाम की एक सुन्दर पुस्तक लिखी और सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट (प्राच्य धर्म ग्रंथ माला) के दूसरे और चौदहवें खण्ड का अनुवाद भी आपने ही किया। ग्रंथ प्रकाशन के अतिरिक्त आप पत्र-पत्रिकाओं के लिए गवेषणा पूर्ण लेख भी लिखते रहे जिनमें ब्राह्मी और अन्य भारतीय लिपियों के सम्बन्ध में लिखे गये दो लेख बहुत ही उत्कृष्ट कोटि के माने गये। मथुरा और खारवेल के शिला लेखों का अध्ययन कर आपने जैन और बौद्ध धर्म का काल निर्णय भी किया है। इस प्रकार भारतीय विद्वानों से संपर्क बढ़ाते हुए आपने अत्यन्त परिश्रम के साथ जैन धर्म के ग्रंथों का, ब्राह्मण-ग्रंथों का और अनेक संस्कृत-ग्रंथों का पता लगाया और कुछ का प्रकाशन भी किया। इनके परिश्रम-पूर्ण कार्यों से सन्तुष्ट होकर भारत सरकार ने इनको १८७८ में सी० आई० ई० की पदवी प्रदान की थी।

संस्कृत ग्रंथों की खोज के लिए सतत परिभ्रमण के कारण आपका स्वास्थ्य कुछ गिरने लगा, जिससे चिंतित होकर आपने पुनः स्वदेश जाना चाहा और तदनुसार प्रयत्न कर विएना विश्वविद्यालय में भारतीय शास्त्रों के अध्यापक का पद प्राप्त किया। १८८० में विएना जाकर वहाँ आपने ओरियण्टल इंस्टिट्यूट की स्थापना की और इंसाइक्लोपीडिया आफ इंण्डो आर्यन रिसर्च नामक विशाल ग्रंथ के प्रकाशन की सामग्री एकत्र कर उसके कुछ भाग प्रकाशित भी कराये। ओरिएण्टल जर्नल नामक पत्र का भी आपने प्रकाशन प्रारंभ किया जिसमें इनके लिखे हुए भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी अनेक लेख प्रकाशित हुए। मैक्समूलर लिखित संस्कृत साहित्य के इतिहास में वैदिक देवताओं की सूची बनाने में आपने बहुत अधिक सहयोग दिया था।

दुःखद अन्त

भारतीयों के लिए होली पर्व का जैसा महत्त्व है वैसा ही महत्त्व अंग्रेजों के लिए ईस्टर का है। सन् १८९८ की पाँचवीं अप्रैल को डा० बूलर ने ज्यूरिच में वर्त्तमान अपनी पत्नी और लड़कों बच्चों के साथ ईस्टर त्यौहार मनाने के उल्लासमय उद्देश्य से विएना से प्रस्थान किया, किन्तु मार्ग में कैंस्टेंस झील का सुन्दर दृश्य देखकर आप मुग्ध हो गये और लिंडला नामक स्थान पर रुककर आपने नौका-विहार द्वारा अपने प्रकृति-प्रेमी मानस की प्यास बुझानी चाही। नौका-विहार करते समय नाव का एक डाँड़ आपके हाथ से छूट गया और उसे उठाने के लिए ज्योंही आप एक ओर झुके नाव उलट गयी और इस प्रकार आपने उस झील के प्रशान्त गम्भीर वातावरण में चिर-समाधि ले ली। उनका यह अचिन्तित अन्त स्मरण कर किसी कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आ जाती हैं।

अघटित - घटितानि घटयति,
घटित-घटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति,
यानि पुमान्नैव चिन्तयति।

१६- जेम्स आर० वैलेण्टाइन एल० एल० डी०

[प्रिंसिपल रहे — सन् १८४५ से १८६१ ई तक ॥]

बनारस के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज अथवा काशिक राजकीय संस्कृत पाठशाला की अपनी विशिष्ट मर्यादा है। इसकी स्थापना लार्ड कार्नवालिस की आज्ञा से बनारस के तत्कालीन रेजिडेण्ट श्री जोनाथन डंकन महोदय के द्वारा सन् १७९१ में हुई थी। दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों का संकलन और उनके अध्ययन तथा अध्यापन की व्यवस्था द्वारा संस्कृत वाङ्मय का संरक्षण एवम् अंग्रेजी न्यायालयों में हिंदू धर्मानुकूल व्यवस्था देने के लिए विद्वानों को तैयार करना इन्हीं दो उद्देश्यों को लक्ष्य कर इस संस्था को जन्म दिया गया था। इसके प्रथम उद्देश्य की पूर्ति इस संस्था के द्वारा आज तक अक्षुण्ण रूप से होती आ रही है और आज के नव भारत में संस्कृत प्रेमियों को इस बात से और भी उत्साह है कि उसी नगरी के एक महोत्साह नागरिक एवं संस्कृत वाङ्मय के सतत सेवी और सुविज्ञ विचारक श्री सम्पूर्णानन्दजी के द्वारा उनके शिक्षामंत्रित्व काल में इसको संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप देने की योजना बनायी जा चुकी है जो उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है और 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनंतर अवश्य ही सम्पूर्ण होकर रहेगी।

इस पाठशाला के अध्यक्ष प्रारम्भ से लेकर सन् १९१८ ई० तक अंग्रेज संस्कृतज्ञ ही होते रहे। जेम्स वैलेण्टाइन इन्हीं प्रिंसिपलों में से एक थे। इनका इस कालेज का कार्य-काल १८४६ से १८६१ तक था। जेम्स राबर्ट वैलेण्टाइन महोदय ने अपने परिश्रम से संस्कृत में बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। संस्कृत बोलने और लिखने में वे समान रूप से निपुण थे। वे स्वभावत: समन्वयवादी थे। उनका विचार था कि प्राच्य और पाश्चात्य को दार्शनिक विचारधाराओं को लोग भली-भाँति समझें और अनुवाद के माध्यम के द्वारा परस्पर लाभान्वित हों। उन्होंने कपिलमुनि के साङ्ख्य सूत्रों का अंग्रेजी में जो अनुवाद

किया है उसकी भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि संस्कृत कालेज के कुछ पण्डितों को अँग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था इसीलिए की गयी है कि वे इन भारतीय ग्रंथों के अँग्रेजी अनुवाद की समीचीन समालोचना करें जिससे अनुवाद शुद्ध होकर मान्य हो। साङ्ख्य सूत्र का अँग्रेजी अनुवाद करने के अतिरिक्त सरलातिसरल संस्कृत में लिखी हुई उनकी एक पुस्तक न्यायकौमुदी भी है जिसकी भूमिका में उन्होंने अपनी सदाशयता का साक्ष्य इस प्रकार दिया है—

सुनिपुणानां बुद्धिमतां विचारे परस्पर विरोधः केवलं दुःख हेतुः। वादि-प्रतिवादि मतार्थस्याभेदेऽपि यदि तयोर्भाषा-भेद-मात्रेण भेदोऽव-भासः तर्हि सोऽपि तथैव। अन्योऽन्य मततत्त्वपरीक्षणात्पूर्वं परस्पर निन्दादिकं निष्फलत्वादनुचितम् इत्यादि।

इस न्यायतत्त्व-कौमुदी में उन्होंने गौतम के न्याय-सिद्धांतों का यथार्थ उप-पादन करते हुए 'इंगलैण्डियों' के नवीन न्यायमत का उपस्थापन किया है। इसकी लेखन-शैली बड़ी मनोहारिणी है जिससे इनके हृदय की स्वच्छता का परिचय मिलता है। इनकी लेखन-शैली का उदाहरण देखिए। गौतम का सूत्र है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्

(१) युगपदेककाले। एकात्मनीति पूरणीयम्। ज्ञानानामनुत्पत्तिर्यतः स एव धर्मो मनसो लिङ्गम् लक्षणमित्यर्थः।

(२) अत्र मनोनामकं परमाणु परिमाणं, क्रियावत्, आभ्यन्तरम् इन्द्रियम् तच्चात्मना संयुक्तं सद्येन-येनेन्द्रियेण यदा-यदा संयुज्यते तदा-तदा तदिन्द्रियेण ज्ञानं जायते तस्य च परमाणुत्वाद् युगपदनेकेंद्रिय संयोगाभावेन न युगपन्नाना-ज्ञानोत्पत्तिरिति गौतममतम्। अस्मन्मतं तु जीवात्मनो युगपन्नाना-ज्ञान धारणे स्वाभाविकी काचिदशक्तिर्विद्यते तद्विशिष्ट आत्मा मनः पदेन व्यवह्रियत इति।

पुस्तक में सर्वत्र भाषा प्रवाह एक-सा है और उसकी प्राञ्जलता और सरसता में अन्तर नहीं आने पाया है जिससे यह निश्चय होता है कि इन्होंने

पूरी पुस्तक गम्भीर अध्ययन और मनन के अनन्तर ही लिखी है। प्रारम्भ के मंगलाचरण और उद्देश्य वर्णन के चार श्लोक इस प्रकार हैं—

दुर्ज्ञेयानन्त गुणैर्वस्तुभिरापूरितं जगदनन्तैः।
यः सृजतीच्छामात्रात् स सदा परमेश्वरो जयति ॥ १ ॥
तस्यैवकृपावशतो विचार्य चिरमक्षपाद-सूत्रार्थम्।
रचयाम्यभिनवरीत्या निबन्धमेतं जनोपकाराय ॥ २ ॥
यन्मतमिङ्गलैण्डीयानां मतं यद्गौतमस्य च।
तयोः साम्यं विरोधश्च विषयोऽत्र विविच्यते ॥ ३ ॥
बहुल प्रयत्नरचिता बह्वर्थाऽल्पाक्षराऽप्यसंदिग्धा।
बालण्टैनस्य कृतिर्भूयादेषा मुदे विदुषाम् ॥ ४ ॥

इसी प्रकार अध्याय समाप्ति पर भी इन्होंने अपना नाम और अध्यायस्थ विषय तत्त्व का उल्लेख किया है।

इति श्रीमज्जेम्स् बालण्टैन विरचितायां न्यायकौमुद्यां गौतमोक्त पदार्थमालया नव्य युरोपीय मतसिद्ध-पदार्थमालायाः साम्यविरोध-योर्दर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

बैलेण्टाइन महोदय ने स्वरचित न्यायकौमुदी में विस्तार पूर्वक गौतम सूत्रों का विवेचन और यूरोपीय मत का उपपादन करने के अनन्तर सांख्य, वेदांत, रेखागणित, बीजगणित, प्राणिशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल और अर्थ-शास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों का संक्षेप में बड़ा सुन्दर और शास्त्रसम्मत संकलन किया है—भूगोल में वर्णित ज्वालामुखी का वर्णन देखिए।

जलं भूगोलस्याततप्तमभ्यन्तर-देशं प्रविश्य तत्रत्यान् सुतप्तान् पार्थिवांशान् येषां द्वारेण बहिर्निस्सारयति तानि छिद्राणि ज्वालामुखी पदेन व्यवह्रियन्ते।

(१) तत्रैवं विधा ज्वालामुखी वङ्गदेशीय समुद्रशाखायां वन्ध्यद्वीप-नाम्ना प्रसिद्धास्ति।

(२) यदा तावद् भूपुटं भज्यते तदा तस्य ज्वालामुखी नामकस्य वहिर्महता वेगेन निःसरन्नतितप्तः पार्थिवांशस्तस्य पर्वतस्य परितो वहन्नधो याति। येन येन च वस्तुना संयुज्यते तद् विनाशयति। अथ स कालेन शुष्यन् पूर्वोक्तो ज्वालामुखी प्रस्तर नामकः खनिजो भवति।

इस पुस्तक का नवीन ढंग से सम्पादन कर यदि इसे मध्यमा परीक्षा के लिए पाठ्यरूप में नियत किया जाय तो अवश्य ही छात्रों की ज्ञानवृद्धि के साथ उनमें नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों और अन्य बहुविधि यूरोपीय नवीन ज्ञानों को संस्कृत-वद्ध करने की प्रेरणा उत्पन्न करेगी।

इनका लिखा हुआ हिन्दी (खड़ी वोली) और व्रज-भाषा का एक प्रारंभिक व्याकरण भी है। जिसमें इन्होंने खड़ी वोली के शब्द रूपों के साथ तत्समान व्रज-भाषा के रूप आदि दिये हैं। मैंने इसका द्वितीय संस्करण जो इनकी मृत्यु के अनन्तर छपा देखा। इसमें लॄ का भी दीर्घ रूप दिया हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि संस्कृत के विद्वान् श्री बैलेण्टाइन ने ऐसा क्यों किया, जबकि संस्कृत व्याकरण का "संज्ञा-प्रकरण" ही यह स्पष्ट कर देता है कि लॄ वर्ण का दीर्घ नहीं होता। हो सकता है यह उनकी मृत्यु के अनन्तर किये गये इसके परिवर्त्तनों में से हो जिन्हें सम्पादक ने इस आशय से किया है कि अवश्य ही ये दिवङ्गत लेखक से मान्य हुए होते। इस संदेह का निराकरण इसका प्रथम संस्करण देखकर किया जा सकता है; पर वह मुझे सुलभ नहीं हो सका। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर भारतीय देवताओं में सर्व-प्रधान श्रीगणेशजी का चित्र देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि श्री बैलेण्टाइन न केवल भारतीय भाषा के ही प्रेमी थे; किंतु उनका प्रेम भारतीय संस्कृति से भी था जिसके फलस्वरूप उन्होंने गणपति का ब्लाक अपनी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर मुद्रित कराया।

बैलेण्टाइन महोदय की रचनाओं को देखकर उनके प्रति आस्था उत्पन्न होने के साथ ही उनकी दिनचर्या की जिज्ञासा स्वाभाविक है। खेद है ऐसे संस्कृतज्ञ और सहृदय का विस्तृत जीवन-वृत्त सामग्री के अभाव में यहाँ इससे अधिक नहीं दिया जा सका।

20 —

डा० कीलहार्न

सन् १८४३ — से — १९०८ ई० तक ॥

भारतीय वाङ्मय में वेद, उपनिषद् तथा दर्शन ग्रंथों का जो गौरव है उसी महान् गौरव से पाणिनि का व्याकरण शास्त्र भी अभिमण्डित है। उनकी सुसम्बद्ध संक्षिप्त सूत्र-रचना व्याकरण शिक्षा की दृष्टि से विश्वसाहित्य की बेजोड़ रचना है। अँग्रेज संस्कृतज्ञों ने यह भली भाँति समझ लिया था इसीलिए प्रायः समस्त उच्चकोटि के अँग्रेज संस्कृतज्ञों ने संस्कृत व्याकरण पर कुछ न कुछ लिखा है। इनमें गोल्डस्टकर और कीलहार्न मुख्य हैं। जिस प्रकार मैक्समूलर, वेबर और बेनफी आदि ने वेदों का प्रामाणिक संस्करण सम्पादित करने में सतत और अथक परिश्रम किया था, उसी प्रकार डाक्टर कीलहार्न ने भी संस्कृत व्याकरण में मूर्धन्यरूप से मान्य, पतंजलि प्रणीत महाभाष्य के सम्पादन में अथक परिश्रम किया था। सन् २७ में जब मैं हिंदू-विश्वविद्यालय में शास्त्राचार्य कक्षा में था तब पूर्ण महाभाष्य की आवश्यकता होने पर मुझे उसका सुन्दर भारतीय संस्करण नहीं ही सुलभ हो सका था उस समय कीलहार्न सम्पादित महाभाष्य का सुन्दर मुद्रण देखकर मेरे मन में पाश्चात्यों के पौरुष की अतिशय प्रशंसा का भाव बरबस उत्पन्न हुआ था जो अब तक वर्तमान है। संस्कृत ग्रंथों के मुद्रण के लिए आवश्यक विशेष रूप के टाइपों का निर्माण कर उनके द्वारा मुक्तावली के समान आकर्षक रूप में उनका प्रकाशन सचमुच ही इन विदेशीय देशों में मुद्रित ग्रंथों की अपनी निजी विशेषता है। भारतवर्ष में सुन्दर से सुन्दर ढंग से छापी गयी संस्कृत पुस्तकें अब भी इन विदेशों में छपे संस्कृत ग्रंथों की तुलना में तुच्छ प्रतीत होती हैं।

डाक्टर कीलहार्न जर्मनी के निवासी थे। प्रारम्भिक शिक्षण-काल में ही संस्कृत के प्रति अधिक ममत्व और अनुराग उत्पन्न होने के कारण आपने जर्मनी में ही संस्कृत का अच्छा ज्ञानार्जन कर लिया था। कुछ दिनों तक

मैक्समूलर को ऋग्वेद के सम्पादन कार्य में सहायता देने के प्रसंग में उनके साथ रहने के कारण आपका संस्कृत भाषा संबंधी अध्ययन और भी उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। इनकी संस्कृत की योग्यता से संतुष्ट होकर मैक्समूलर ने इनकी संस्तुति की थी जिसके कारण इनको पूना के डेकन कालिज में संस्कृत के अध्यापक का पद प्राप्त हुआ था। भारत आने से पूर्व ही आपने सन् १८६६ में शान्तनवाचार्य प्रणीत वैदिक व्याकरण सम्बन्धी फिट् सूत्रों का सम्पादन किया था, जिससे वहाँ आपको अच्छी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। भारतवर्ष में आकर आपने अनन्त शास्त्री पेंढरकर से नियमानुकूल व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया और कठिन परिश्रम के द्वारा उसमें निपुणता प्राप्त की। व्याकरण के मूल और टीका ग्रंथों का आपने सम्यक् अध्ययन किया था जिसके फलस्वरूप आपने नागोजी भट्ट द्वारा लिखित परिभाषेंदुशेखर का संपादन कर उसे कई खण्डों में प्रकाशित किया। इसका अँग्रेजी अनुवाद भी आपने किया और यथास्थान उचित टिप्पणियों से उसे पूर्ण बनाया। जैसा कि प्रारम्भ में लिखा जा चुका है आपने पतंजलि रचित महाभाष्य का भी सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया। संस्कृत भाषा के अध्येताओं के लिए आपने पृथक् रूप से अंग्रेजी में संस्कृत व्याकरण भी लिखा। इस प्रकार इनके द्वारा सम्पादित और लिखित व्याकरण के ग्रंथों और समय-समय पर लिखे गये लेखों को देखकर आज का कोई भी भारतीय संस्कृतज्ञ इन्हें 'वैयाकरण' की उपाधि से अलंकृत करने में संकोच नहीं करेगा।

व्याकरण जैसे कठिन और शुष्क शास्त्र का समीचीन अध्ययन और अध्यापन करने में सफलता प्राप्त कर लेने पर आपका ध्यान ऐतिहासिक गवेषणाओं की ओर प्रवृत्त हुआ और आपने प्राचीन चोल और पाण्ड्य देशों के इतिहास की अच्छी खोज की। इस संबंध के आपके लेख बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। कुछ दिनों भारतीय ताम्रपत्र तथा शिला-लेखों के साथ परिश्रम कर आपने अपने समय तक सुलभ इन शिला-लेखादि की सूची तैयार कर प्रकाशित करायी। इस प्रकार आपने भारत निवास काल का सदुपयोग कर सुयश लाभ किया। अनन्तर अपनी मातृ-भूमि के ममत्व से अनुप्राणित होकर आप

गाटिंजन चले गये और वहाँ के विश्वविद्यालय में संस्कृताध्यापन करने लगे। डा० बूलर के चरित्र में यह बात लिखी जा चुकी है कि उन्होंने इन्साइक्लोपीडिया आफ आर्यन रिसर्च का सम्पादन प्रारम्भ किया था, जिससे आर्यों से सम्बन्ध रखनेवाले अनुसंधान संबंधी लेखादि प्रकाशित होते थे। डा० बूलर की मृत्यु के बाद डा० कीलहार्न ने ही इसका संपादन किया जिसके द्वारा पूर्वी पुरातत्त्व संबंधी विषयों का पाश्चात्य देशवासियों को अच्छा ज्ञान हुआ। इस प्रकार जीवन-पर्यंत सुरभारती संस्कृत की सच्ची सेवा में संलग्न रहकर डा० कीलहार्न ६५ वर्ष की अवस्था में १६ मार्च १९०८ ई० को दिवंगत हुए।

२६- जार्ज फ्रेडरिक विलियम थिबो, पी-एच० डी० सी० आई० ई०

(सन् १८४१ ?) प्रिंसिपल रहे - १८७६ से १८८८ ईसवी ॥

समय और समाज के स्वाभाविक परिवर्त्तन के साथ उससे सम्बद्ध मान्यताओं और महत्ताओं में भी परिवर्त्तन होना स्वाभाविक है। एक समय था जब संस्कृत के उद्भट विद्वानों की परीक्षा शलाका पद्धति से अथवा शास्त्रार्थ-विजयी होने से की जाती थी; किन्तु आज सर्व-साधारण की योग्यता का माप नियत समय के अन्तर्गत निर्धारित प्रश्नों का उत्तर लिख देने मात्र से स्थिर किया जाता है। भले ही किसी ने मूल ग्रन्थों को देखा तक न हो; किन्तु यदि वह किसी प्रकार ज्ञात अथवा अनुमानित प्रश्नों का उत्तर भली भाँति कण्ठस्थ कर परीक्षा भवन में उसका उद्वमन कर सकता है तो अवश्य ही वह उत्तम श्रेणी की योग्यता का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेता है। संस्कृत की योग्यता-परीक्षा भी आज इसी पद्धति के अधीन है। समय की गति के अनुसार अंग्रेजी की परीक्षाओं के समान ही संस्कृत में भी प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री और आचार्य परीक्षाओं को प्रचलित करने की योजना थिबो साहब ने ही बनायी थी। थिबो साहब १८७६ ई० से १८८८ तक गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस के प्रिंसिपल के पद पर रहे। उन्हीं के कार्यकाल में संस्कृत की ये प्रथमा आदि परीक्षाएँ सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई थीं।

थिबो साहब जर्मन के रहनेवाले थे। उनके प्रायः सभी पूर्वज अच्छे पदों पर थे और अपने-अपने गुणों के कारण विख्यात थे। इस प्रकार इनका घराना बहुत अच्छा था जिसके कारण शैशव से ही इनमें सद्गुणों का समावेश होने लगा। सौभाग्यवश विनय और सौजन्य की जननी संस्कृत भाषा के प्रति भी इन्हें लड़कपन से ही अनुराग उत्पन्न हुआ और ये उसका अध्ययन परिश्रम

ग्रौर रुचि के साथ करने लगे। बर्लिन ग्रौर हीडिलबर्ग के विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने के अनन्तर थिबो साहब लन्दन गये ग्रौर वहाँ मैक्समूलर के साथ रहते हुए तीन-चार वर्ष व्यतीत किये। उनके साथ इतने दिनों तक रहने के कारण डा० थिबो का संस्कृत का ज्ञान ग्रत्यधिक परिमार्जित ग्रौर पुष्ट हो उठा। विद्वत्समाज में उनके संस्कृत-पाण्डित्य की ख्याति हुई जो ग्रँग्रेज सरकार ने भी सुना। उस समय गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस में संस्कृत के पण्डितों ग्रौर छात्रों को ग्रँग्रेजी पढ़ाना भी मुख्य उद्देश्य था। ग्रतः तत्कालीन ग्रँग्रेज ग्रधिकारियों ने थिबो साहब को इसके सर्वथा उपयुक्त समझकर उनकी नियुक्ति इस पद पर कर दी ग्रौर थिबो साहब ग्रँग्रेजी तथा संस्कृत के अध्यापक होकर बनारस ग्राये। ग्रापने इस पद पर दो वर्ष कार्य किया, ग्रनन्तर इस पद के ही तोड़ दिये जाने पर आप उत्तर-प्रदेशीय ग्रँग्रेजी स्कूलों के इंस्पेक्टर नियुक्त हुए; किन्तु इस पद पर ग्राप ग्रधिक दिन न रहे ग्रौर पुनः बनारस गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में प्रिंसिपल के पद पर प्रतिष्ठित किये गये। सन् १८८८ तक इस पद पर काम करने के ग्रनन्तर आप पंजाब विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार बनाये गये; किन्तु थिबो जैसे विद्या-व्यसनी को कोरी क्लर्की का यह काम ग्रधिक रुचिकर नहीं हुग्रा ग्रतः ग्रवसर मिलते ही ग्रँग्रेजी ग्रौर दर्शन शास्त्र के ग्रध्यापक का पद-भार ग्रहण करने के लिए ग्राप प्रयाग विश्वविद्यालय ग्रा गये ग्रौर कुछ दिनों तक शिष्य-प्रिय अध्यापक रहे। ग्रनन्तर गफ साहब के सेवा कार्य से विश्रान्त हो जाने पर आप म्योर कालेज के ग्रध्यक्ष हो गये ग्रौर राजकीय सेवाकार्य से विश्रान्त किये जाने की ग्रवधि ग्रर्थात् ५५ वर्ष की ग्रवस्था तक तत्परता ग्रौर लोकप्रियता के साथ कार्य करते हुए ग्रापने २४ ग्रप्रैल १९०६ को ग्रवकाश ग्रहण किया।

डाक्टर थिबो वैसे तो ग्रँग्रेजी, संस्कृत ग्रौर दर्शन के विद्वान् थे; किन्तु उनका अवकाश का प्रिय विषय—जिसे ग्रँग्रेजी में हाबी कहते हैं—था गणित। प्रयाग विश्वविद्यालय के ग्रपने कार्यकाल में उन्होंने इस विषय के ज्ञान को ग्रौर विशद किया। उनको ग्रपने पद का थोड़ा भी अभिमान न था ग्रतः वे गणित की कोई कठिन बात न समझ सकने पर प्रयाग विश्वविद्यालय

के तत्कालीन गणिताध्यापक श्री रामनाथ चटर्जी से निःसंकोच पूछ लिया करते। डा० थिवो ने यह स्वीकार किया था कि भारतीयों को ज्यामिति (ज्यामेट्री) का ज्ञान था; क्योंकि वे यज्ञों की वेदी के निर्माण में इस शास्त्र के सिद्धांतों के अनुकूल काम करते थे। डाक्टर थिब्रो के पाण्डित्य की ख्याति सर्वप्रथम शुल्व सूत्रों पर गवेषणा-पूर्ण लेख लिखने के कारण हुई थी।

डा० थिवो निर्भीक कार्यकर्त्ता थे। जनहित उनका ध्येय था। किसी एक के हित अथवा स्वार्थ-सिद्धि के द्वारा समाज अवाञ्च्छनीय वस्तु को ग्रहण और स्वीकार करने के लिए वाध्य हो इसके वे कट्टर विरोधी थे। एक बार हिंदी और उर्दू में उत्तम रीडर प्रकाशित करनेवाले प्रकाशक को सरकार की ओर से पुरस्कृत किये जाने की विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। विचारार्थ प्रस्तुत की गयी रीडरों की उत्कृष्टता और निकृष्टता का निर्णय करने के लिए एक विशेष समिति वनायी गयी। डा० थिवो भी उसमें थे। उन्होंने रीडरों को विशेषकर हिंदी रीडरों को अच्छी तरह देखा और पढ़ा था। अंतिम निर्णय के समय जब प्रायः वहुमत से एक प्रकाशक की रीडर का स्वीकरण होने जा रहा था उसी समय आपने उस रीडर की त्रुटियाँ लोगों को बतलाईं और उसे अयोग्य सिद्ध किया। डा० थिवो परिमार्जित हिंदी-प्रयोग के पक्षपाती थे।

महर्षि वादरायण का ब्रह्मसूत्र भारतीय वेदान्त सिद्धान्तों का सर्वमान्य ग्रंथ है। भारत के उच्चकोटि के मनीषियों ने इस पर अपने पृथक् भाष्य लिखे हैं जिनमें से कुछ सम्प्रदाय विशेष अथवा विशिष्ट मत के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन भाष्यों में जगद्गुरु श्री शंकराचार्य का लिखा हुआ निर्विशेष अद्वैत मत का प्रतिपादक शारीरिक भाष्य तथा श्रीरामानुजाचार्य महाराज का विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादक श्रीभाष्य वहुत प्रसिद्ध है। डाक्टर थिवो ने शंकर तथा रामानुज भाष्य युक्त ब्रह्मसूत्र का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर और ज्योतिष, वेदांग तथा मीमांसा शास्त्र संबंधी आपके लिखे हुए अनेक लेख आपकी ज्ञान-गरिमा के सुन्दर परिचायक हैं। आपकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर अँग्रेज सरकार ने आपको सी० आई० ई० की अत्यन्त सम्मानित पदवी से अलंकृत किया था।

22-

डा० हर्मन जी० जैकोबी

डा० बूलर के शब्द चित्र में यह बात पीछे लिखी जा चुकी है कि जैकोबी साहब उनके मित्र थे। यह बूलर के साथ ही सन् १८७३ में भारतवर्ष आये थे। यहाँ आपको जैनधर्म और जैन साहित्य के प्रति विशेष अभिरुचि हुई और आपने विशेष लगन के साथ जैनों के ग्रंथों को देखा-भाला और पढ़ा। आपने जैनों के कल्पसूत्र नामक ग्रंथ का सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया और जैन तथा बौद्ध-धर्म को परस्पर पृथक् धर्म बतलाया। इसके अतिरिक्त भी आपने अनेक जैन-ग्रंथों का अनुवाद तथा हेमचंद कृत परिशिष्ट पर्व का प्रकाशन किया। ध्वन्यालोक तथा अलंकार सर्वस्व का अनुवाद भी आपने जर्मन भाषा में किया। आपको अलंकार शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने कुछ समय के लिए आपको बुलाकर भारतीय छात्रों के लाभार्थ अलंकार विषयक व्याख्यान भी आपसे दिलाये थे।

डा० जैकोबी जर्मन के रहनेवाले थे। वहाँ उनका जन्म सन् १८५० ई० में हुआ था। बर्लिन और बॉन् के विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक भाषा शास्त्र तथा संस्कृत का अध्ययन कर १८७२ में आपने एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी। आप बान विश्वविद्यालय के संस्कृत भाषा के प्राध्यापक थे। संस्कृत के अतिरिक्त गणित शास्त्र में भी आपका विशेष अध्ययन था। मृगशिरा तारकापुंज की सौर जागतिक स्थिति के अनुकूल गणित की गणना के आधार पर श्रीमान् बालगंगाधर तिलक ने वेदकाल का जो आनुमानिक निर्धारण अर्थात् ईस्वी सन् से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व किया था उसी निष्कर्ष पर श्री जैकोबी भी अपने स्वतंत्र अनुसंधान के द्वारा पहुँचे थे। इसकी स्वीकृति श्री तिलक ने 'आर्कटिक होम इन दि वेदास' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में की है--……Naturaly enough these results were, at first

received by scholars in a sceptical spirit. But my position was strengthened when it was found that Dr. Jacobi. of Bonn, had independently arrived at same conclusion, and, soon after, scholars like Prof. Bloomfield, M. Barth, the late Dr. Bhuler and others, more or less freely, acknowledged the force of my arguments.

श्री जैकोवी की प्रसिद्धि अलंकार-शास्त्र के मर्मज्ञ के रूप में थी। सुना है अलंकार-सर्वस्व तथा ध्वन्यालोक का आपने जर्मन भाषा में अनुवाद भी किया है। आपके सम्बन्ध में इससे अधिक इस समय नहीं ज्ञात हो सका।

---

२३ –

आर्थर ए० मैकडानल

संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखनेवाले आधुनिक लेखकों की चर्चा करते समय मैकडानल और कीथ का नाम किसी प्रकार भी उपेक्षित नहीं रह सकता। यह तो नहीं माना जा सकता कि संस्कृत में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति का अभाव था, क्योंकि भारतीय अष्टादश पुराणों में इतिहास ही प्रचुरमात्रा में वर्तमान है। मनुस्मृति के रचयिता ने अपने ग्रंथ के उपक्रम में इतिहास का ही वर्णन किया है सो भी पूरे जगत् के इतिहास का। किस प्रकार जलीय सृष्टि के अनन्तर हिरण्यमय अण्ड से क्रमशः मरीच्यादि सप्तर्षि उत्पन्न हुए और सृष्टि का विकास हुआ इत्यादि। किन्तु संस्कृत में जो नहीं लिखा गया वह है संस्कृत के ग्रंथों का और उनके रचयिताओं का इतिहास। यद्यपि बारहवीं शताब्दी के आस-पास राजतरंगिणी के लेखक कल्हण ने इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास किया और आगे चलकर जोनराज, राजशेखर तथा बिल्हण आदि कुछ कवियों ने भी ऐतिहासिक काव्यादि लिखे तथापि विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य में समाविष्ट समग्र विषयों का एकत्र उल्लेख करना अँग्रेज़ों के ही राज्य-काल में हुआ। इसके लिए मैक्समूलर, मैकडानल और कीथ महोदय का हम सब को कृतज्ञ होना चाहिए। इन लोगों ने तथा अन्य अनेक विदेशी विद्वानों ने इस प्रकार एक अभिनव पद्धति का निर्माण कर संस्कृत-साहित्य-रसिकों के लिए अनुसंधान और प्रकाशन की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत के अध्येता और अध्यापक दोनों ही मिलकर इन विदेशी विद्वानों द्वारा लिखी गयी बातों की सत्यता का परीक्षण कर उन्हें परिष्कृत करें। विदेशी विद्वानों द्वारा लिखी गयी संस्कृत-साहित्य संबंधी सूचनाओं में तथा संस्कृत ग्रंथों के उनके किये गये अनुवादों में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर करें। अस्तु।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले मैकडानल महोदय का जन्म मुजफ्फरपुर (तिरहुत) में ११ मई १८५४ को हुआ था। किन्तु इनकी शिक्षा-दीक्षा योरप में हुई। जर्मनी के गाटिंजन तथा इंगलैंड के आक्सफर्ड विश्व-विद्यालयों में आपने प्राचीन जर्मन भाषा, संस्कृत भाषा तथा चीनी भाषा और साथ ही भाषा-व्युत्पत्ति शास्त्र का भी विशेष परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया और ससम्मान उपाधियाँ तथा छात्रवृत्ति प्राप्त की। इस प्रकार व्युत्पन्न बनकर आपने अपनी योग्यता के बल पर आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद प्राप्त किया। संस्कृत के ललित साहित्य के आपके गुरु मानियर विलियम्स थे और वैदिक साहित्य के बेनफी, रोट और मैक्समूलर। डा० मैकडानल ने वैदिक व्याकरण, संस्कृत व्याकरण, वैदिक देवताओं का विवरण तथा संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखने के साथ ही ऋग्वेद का अँग्रेजी में अनुवाद भी किया है। इनके अतिरिक्त इनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भी अच्छी संख्या है। मैकडानल महोदय में मैक्समूलर के समान भारतीयों के प्रति ममत्व और आदर का भाव न था। वे भारतीय विद्वानों को अवैज्ञानिक पद्धति के प्रचारक कहकर सिविल सर्विस के परीक्षार्थियों को विदेश में ही संस्कृत पढ़ाने के पक्षपाती थे। आप १९०७ में ६-७ मास के लिए भारत आये थे। अपनी इस यात्रा में इन्होंने भारत भ्रमण कर हस्तलिखित अनेक संस्कृत ग्रंथ देखे और जैसी कि अँग्रेजी राज्य की प्रथा थीं अनेक संस्कृत ग्रन्थ अपने साथ वापसी में योरप लेते गये थे। इनके द्वारा वर्णित संस्कृत-साहित्य सम्बन्धी कुछ बातों के खण्डन और अनुवाद में संशोधन करने के लिए भारतीय विद्यार्थी को पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकती है।

२४—

ए० बी० कीथ

सन्—(१८७९-१९४४)ई०

भाषा-विज्ञान, संविधान और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् आर्थर वेरिडेल कीथ (Arthur Berriedale Keith) महोदय का जन्म ब्रिटेन के डनवार नामक प्रदेश में १८७९ ईस्वी में हुआ था। इनकी शिक्षा रायल हाई स्कूल एडिनबरा, एडिनबरा विश्वविद्यालय तथा वैलियल कालेज आवसफर्ड में हुई। संस्कृत भाषा के अध्ययन में उत्कर्ष के कारण इनको वोडेन संस्कृत छात्र-वृत्ति प्राप्त हुई थी। सन् १९०१ में यह अपने जीवन के कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हुए और जीविकार्थ औपनिवेशिक कार्यालय में कार्य करना प्रारम्भ किया किन्तु यहाँ इनका मन न रमा और इन्होंने अपना प्रिय विषय अध्ययन सम्बन्धी अनुसन्धान-अपनाना चाहा। फलस्वरूप इनकी नियुक्ति तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और संस्कृताध्यापक के पद पर एडिनबरा विश्वविद्यालय में हुई। इस पद पर स्वाध्याय और अनुसन्धान में रत रहकर इन्होंने ससम्मान ३० वर्ष व्यतीत किये। इनकी अनेक विषयिणी योग्यता और प्रतिभा के कारण विश्व-विद्यालय के अधिकारियों ने इनको संविधान शास्त्र तथा इतिहास का भी अध्यापन-प्रबन्ध सौंप दिया था। इस प्रकार कीथ महोदय अपने समय में एडिनबरा विश्वविद्यालय के अत्यन्त मूल्यवान् नररत्न थे। उनकी ज्ञान गरिमा सम्बन्धिनी ख्याति से खिच कर दूर-दूर के विद्या-व्यसनी विद्यार्थी एडिनबरा आकर उनकी शिष्यता स्वीकार करते थे। श्री कीथ अपने छात्रों को कक्षा में ज्ञान-दान देकर ही नहीं संतुष्ट हो जाते थे। वे आगे आनेवाली पीढ़ी और दूर-दूर के विद्या-व्यसनियों को अपने ज्ञान और अनुसन्धान से लाभान्वित करने के लिए विद्यालयीय कार्य से अवकाश पाते ही रात और दिन एक कर ग्रंथ-प्रणयन के कार्य में लग जाते थे। इस प्रकार सतत परिश्रम के द्वारा इन्होंने

अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की जिनमें प्राच्य भाषा संबंधी मुख्य यह हैं—(रेलिजन एण्ड फिलासफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्) वेद और उपनिषद् के धर्म तथा दर्शन, श्रेण्य संस्कृत-साहित्य रूपरेखा (हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर), (बुद्धिष्ट फिलासफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन) भारत और लंका में बौद्ध दर्शन तथा संस्कृत साहित्य का इतिहास। उपरिलिखित समस्त ग्रंथ उत्कृष्ट कोटि के हैं और उनमें अभिव्यक्त उद्गार और विचार युक्ति-युक्त तर्क संगत और ससार हैं। इनका लिखा हुआ संस्कृत साहित्य का इतिहास इनके गंभीर अध्ययन और परिश्रम का फल है। इसीलिए अँग्रेजी भाषा के माध्यम से संस्कृत साहित्य का अध्ययन करनेवाले लोगों का वह कंठहार-सा है क्योंकि वह अपने में पूर्ण है और बड़े ही रोचक रूप में लिखा गया है। साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों की भी उसमें त्रुटि नहीं है। किंतु भारतीय विद्यार्थी यदि कीथ महोदय की ही तरह परिश्रमशील हों तो अब भी उसमें प्रतिपादित अनेक विषयों का खण्डन-मण्डन किया जा सकता है। किंतु यह निर्विवाद है कि समग्र ग्रंथ बड़े खोज के साथ लिखा गया है। लेखक का यह इतिहास-ग्रंथ मुख्य रूप से ईसवी सन् ३००से१२०० तक के कवियों, ग्रंथकारों और विद्वानों के संबंध में ही है। कालक्रमानुसार प्रत्येक काल और कवि का परिचय लिखने के साथ ही लेखक ने प्रत्येक लेखक अथवा कवि के काल से कुछ उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं और अँग्रेजी में उनका अनुवाद भी दे दिया है जिससे संस्कृत न जाननेवाले भी उसका महत्त्व तथा उच्चाशय समझ सकें। सुप्रख्यात तथा अल्प-प्रख्यात साहित्यनिर्माताओं के विषय में उपलब्ध तथा अपने विशेष अनुसन्धान के फलस्वरूप ज्ञात तथ्यों को लेखक ने अत्यन्त संक्षेप में न लिखकर पर्याप्त विस्तार के साथ लिपिवद्ध किया है। वर्णन-शैली सरल, सरस और प्रांञ्जल है। इनका यह ग्रंथ सन् १९२६ में ही प्रेस में भेजा जाने योग्य बनकर तैयार हो गया था। किंतु आक्सफर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में कार्याधिक्य के कारण वह पूरे साल भर बाद प्रकाशित हो सका। इनका दूसरा संस्कृत-साहित्य-विषयक लोक-प्रिय ग्रंथ 'संस्कृत ड्रामा' है जिसमें संस्कृत के उपलब्ध समस्त नाटकों की विस्तृत चर्चा और उनके सम्वन्ध का ऐतिहासिक तथ्य वर्त्तमान है। इस प्रकार

संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में इन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अब तक विद्वन्मण्डल तथा छात्रसमाज का समादृत पाठ्य विषय बना हुआ है। ग्रंथों का बृहदाकार, विचारों का गाम्भीर्य, और प्रतिपाद्य विषय का गौरव इन सभी बातों पर ध्यान रखते हुए कीथ के संस्कृत विषयक प्रेम और ज्ञान की प्रशं किये विना कोई सहृदय नहीं रह सकता। हमको उनकी कृतज्ञता मुक्त क स्वीकार करनी चाहिए कि उन्होंने संस्कृत साहित्य का इतना सुन्दर इति लिखा तथा अन्य अनेक विषयों की चर्चा की। संविधान संबंधी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं--सावरेन्टी आफ दि ब्रिटिश डोमिनियंस १९२९, दि ग मेंट्स आफ दि ब्रिटिश एम्पायर १९३५, ए कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री आफ इण्डिय (१६००-१९३५) १९३६, दि किंग एंण्ड दि इम्पीरियल क्राउन १९३८ कांस्टिट्यूशन आफ इंगलैंड फ्राम क्वीन विक्टोरिया टु जार्ज सिक्स्थ १९३

ऐसे दैवी प्रतिभाशील, परिश्रमी, उदार और विद्वान् साहित्य-सेवी का निधन सन् १९४४ में हो गया।

१४ २/५८ तथा ०।।

राष्ट्र-भाषा-कोश

जिसमें राष्ट्र-भाषा हिन्दी के शब्द-कोष के अतिरिक्त मुहावरे, संख्या-कोष, तत्सम-कोष, वर्तमानकाल के प्रचलित अँग्रेजी शब्द, संविधान शब्दावली तथा वैदेशिक शब्दावली का समावेश है।

सम्पादक

श्री ब्रजकिशोर मिश्र, एम्० ए०

अध्यापक—हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय

तथा

श्री मदनमोहनलाल दीक्षित

हिंदी-जगत् के इन सर्वमान्य विद्वानों ने इस कोष की प्रशंसा की है:—

१—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष, हिंदी - विभाग, काशी-विश्वविद्यालय

२—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

३—डॉ० वसुदेवशरण अग्रवाल
काशी-विश्वविद्यालय

४—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
डिप्टी डाइरेक्टर ऑफ एजुकेशन, विहार

५—डॉ० विश्वनाथप्रसाद
अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग, पटना-विश्वविद्यालय

६—डॉ० दीनदयाल गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय

७—डॉ० भगीरथ मिश्र
हिंदी-वि०, लखनऊ विश्वविद्यालय

८—श्री कृष्णानंद पंत
अध्यक्ष—हिंदीविभाग, मेरठ कालेज, मेरठ

९—डॉ० हेमचन्द्र जोशी
भूतपूर्व सम्पादक "धर्मयुग"

१०—आचार्य शिवपूजनसहाय
बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना

११—डॉ० रामकुमार वर्मा
हिं०-वि०, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

१२—श्रीअयोध्यानाथ शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग, एस्० डी० कालेज, कानपुर

१३—डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'
अध्यक्ष, हिन्दी - विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

१४—सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
कई समाचार-पत्रों के भू० पू० सम्पादक

१५—श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
सम्पादक सरस्वती

१६—श्री सत्यनारायण पाण्डेय
अध्यक्ष—हिंदी - संस्कृत - वि०, सनातनधर्म-कालेज, कानपुर

मूल्य ११।)

संक्षिप्त संस्करण मूल्य ६)